10·3



श्री अरविन्द

नवजात



श्री अरविन्द

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

श्री अरविन्द

नवजात

अनुवाद

जगदीश अग्रवाल



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

पहला संस्करण 1974 (शक 1895)
पाँचवां संस्करण 1990 (शक 1912)

रु. 12.50

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित।

(स्वर्गीया) श्री मां को समर्पित

आमुख

हजार-हजार जन दर्शनों के लिए श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी पहुंचा करते और वे सभी बड़े कृतार्थ भाव से उस परम शान्तिपूर्ण वातावरण का सुख लाभ करते जो वहां नित्य व्याप्त रहता। सबसे अधिक प्रकट और प्रत्यक्ष रूप में यह वातावरण आश्रम के मुख्य भवन का होता जहां श्री मां का निवास था और प्रांगण में श्री अरविन्द की समाधि भी बनी हुई है।

समाधि के ऊपर लगभग 35 फीट ऊंचा एक महाकाय गुलमोहर का वृक्ष चंदोवा बना छाया है, जिसे श्री मां ने 'सेवा तरु' नाम दिया था। यहां समाधि के चतुर्दिक साधक और दर्शनार्थी सभी बैठकर ध्यान-चिन्तना किया करते हैं। इनमें से कुछ तो अपने को दैवी चेतना के प्रति खोल देने के अभीप्सु रहते हैं, कुछ अपने को पूर्ण अतिमानसिक रूपान्तरण की साधना में समाहित किया करते हैं, और कुछ अपने नाना सांसारिक कष्टों और कठिनाइयों का श्री अरविन्द के चरणों में निवेदन करके उनसे सहायता की याचना करते हैं।

और इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि इन साधकों और दर्शनार्थियों में एक नही होता जिसे अपनी-अपनी ग्रहणशीलता के अनुसार श्री अरविन्द का अनुग्रह न प्राप्त होता हो। क्योंकि श्री मां का स्पष्ट कथन है : "श्री अरविन्द हमें त्याग नहीं गये हैं, वे यहीं हैं, अपने जीवन्त रूप में यहीं विद्यमान हैं; और अब यह हमारे अपने ही ऊपर निर्भर रहता है कि उनके कार्य को पूरी निष्ठा, चाव और अभीष्ट एकाग्रता के साथ सम्पन्न करें।"

एक अन्य अवसर पर श्री मां के शब्द थे : "प्रभु, तूने आज प्रातः ही मुझे आश्वासन दिया है कि जब तक तेरा कार्य पूरा नहीं हो जाता, तू हमारे साथ ही रहेगा, और तेरी यह उपस्थिति न केवल चेतना के रूप में होगी

बल्कि कार्य में गत्यात्मकता के रूप में भी होगी। तूने सुस्पष्ट शब्दों में वचन दिया है कि जब तक पृथ्वीलोक का रूपान्तर नहीं हो जाता, तू सम्पूर्ण रूप से यहीं रहेगा, धरती के पर्यावरण को त्यागकर जायेगा नहीं। हमारे ऊपर तू कृपा कर कि तेरी इस अद्भुत उपस्थिति के योग्य हम बन सकें और हमारी शक्ति और चेतना का कण-कण तेरे महान अलौकिक कार्य को सम्पन्न करने में अधिकाधिक समर्पित हो!"

श्री अरविन्द ने 5 दिसम्बर 1950 को उषाकाल से पूर्व 1.26 पर देह का त्याग किया था। उनका शरीर अतिमानसिक ज्योति से आवेष्टित और फलतः विकृतियों से सुरक्षित था। साढ़े-चार दिन से भी अधिक उसी अवस्था में वह सब के दर्शनों के लिए रखा रहा और जब 9 दिसम्बर 1950 का अपराह्न आया तब उसे समाधिस्थ किया गया। कोई दिन और कोई समय नहीं होता कि श्वेत मरमर निर्मित यह भव्य समाधि मनोज्ञ-मंजुल रूप में पुष्पों से सजाई हुई न रहती हो। सामने ही समाधि पर टंकित हैं ये शब्द—

> तेरे प्रति जो हमारे गुरुदेव का भौतिक आवरण रहा है, तेरे प्रति हमारे अनन्त कृतज्ञता-भाव। तेरे समक्ष जिसने इतना-इतना हमारे लिए किया, इतने-इतने प्रयत्न और संघर्ष किये, आशाएं और आशंसाएं कीं, अहोरात्रि सहा; तेरे समक्ष जिसने हमारे ही लिए सब कुछ चाहा, उसे अपना संकल्प बनाया, स्वयं उद्योग कर-करके संजोया और हमारे लिए उपलब्ध करा दिया; तेरे ही समक्ष, हां, हम नतशिर हो रहे हैं कि एक क्षण के लिए भी उस सब को न भूल जायें जिसके लिए तेरे चिरऋणी हैं!

स्वभावतः यहां प्रश्न उठता है कि आखिर किस प्रकार श्री अरविन्द ने हमारे ही लिए सब कुछ चाहा, उसे अपना संकल्प बनाया, स्वयं उद्योग करके संजोया, और सब कुछ हमारे लिए उपलब्ध करा दिया?

इस प्रश्न का समाधान कठिन भी है और सरल भी। श्री अरविन्द ने लिखा है : "मेरे जीवन के विषय में लिखना किसी के लिए भी सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसे रूप में वह ऊपरी तल पर कभी नहीं आया कि देखा जा सके।" फिर भी जो थोड़ा-सा ही ऊपरी तल पर आया और देखा जा सका वही अपने में इतना अधिक है कि अभिभूत किये बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द की कृतियों के माध्यम से भी उनके आभ्यन्तर जीवन और आभ्यन्तरिक स्तरों पर उनके द्वारा किये गये कार्यों की एक झलक मिलती है। उनकी कृतियों से यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि इस धरती लोक के लिए वास्तव में उन्होंने कितना-कितना किया। प्रस्तुत पुस्तक में हमने यथासम्भव श्री अरविन्द के ही शब्दों को उद्धृत किया है जिसमें कि प्रत्येक पाठक स्वयं अपने चेतना-स्तर के अनुसार उन्हें हृदयंगम कर सके और उनमें निहित आध्यात्मिक शक्ति से लाभान्वित हो सके।

श्री अरविन्द को भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले एक महान राष्ट्रवादी के रूप में स्मरण किया जाता है, एक महान लेखक और कवि के रूप में समादृत और एक महान योगी के रूप में सम्मानित-पूजित किया जाता है। वास्तव में उनका यह त्रिधा गुणवर्णन उनके दिव्य व्यक्तित्व का एक नितान्त परिसीमित मूल्यांकन है।

विज्ञान ने एक आरोहणात्मक क्रम-विकास की बात कही है जो प्रकृति के अन्तर्गत हुआ करता है : यह विकास-क्रम प्रस्तर से वनस्पति, वनस्पति से पशु, और पशु से मनुष्य तक चलता है। भारत में इस क्रम-विकास की प्रक्रिया को पुराणों में दिये गये वर्णनों के द्वारा दशावतार के रूप में प्रतीकित किया गया है। ये दशावतार हैं : मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। श्री अरविन्द का कहना है कि क्रम-विकास की इस प्रक्रिया में मनुष्य भी एक संक्रमणशील अवस्था का ही प्राणी है, अन्तिम स्तर का नहीं; उसका अतिक्रमण करके आगे बढ़ जाना होगा।

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य एक चित्तधर्मी प्राणी है; पर उसमें ऐसी अन्तर्निहित शक्तियां विद्यमान हैं जो चित्त और अन्तर्ज्ञान दोनों से आगे

सत्य-चेतना और अतिमन के क्षेत्र तक पहुंचती हैं। यह अवश्य है कि क्रम-विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत विकास करते हुए प्राणी अतिमानसिक अवस्था में भी पहुंचेगा। पर उसमें हजारों वर्ष लगेंगे। हां, उस सारी प्रक्रिया को तत्काल भी पूरा किया जा सकता है। उस अवस्था में पृथ्वी-लोक का यह सारा ही प्राणिजीवन बदल जायेगा; मनुष्य का मनोदेश आलोकमय हो उठेगा, और समस्त ज्ञान उसमें स्वतः समाया हुआ होगा; इतना ही नहीं, उसकी देह का भी रूपान्तर हो जायेगा और वह दीप्तिमान हो उठेगी। धरती पर जो कुछ भी है वह सभी रूपान्तरित हो जायेगा और तब दिव्य जीवन एक प्रत्यक्ष तथ्य होगा।

इसकी यथार्थ महत्ता, सच में, तब प्रकट होगी और सब को प्रभावित भी कर सकेगी जब पूर्ण रूपान्तरण हो चुकेगा और देह का रूप-भाव तक बदल चुकेगा। आज तो उस अवस्था की कल्पना तक भी दो-एक व्यक्ति ही कर सकेंगे।

भविष्यकाल में श्री अरविन्द का स्वागत-वन्दन ऐसे अवतार के रूप में किया जायेगा जिसने धरती पर अतिमानसिक युग का प्रवेश कराया हो। श्री मां का इस सम्बन्ध में कथन है: "श्री अरविन्द ने मानव देह में अतिमानसिक चेतना को अवतरित किया और, न केवल यही हमारे लिए प्रत्यक्ष कर दिया कि उस लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग कौन सा है और किस विधि से उसका अनुसरण किया जा सकता है, बल्कि स्वयं वहां तक पहुंचकर हमारे सामने एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है; उन्होंने इस बात का भरपूर प्रमाण दे दिया कि जो कहा उसे किया भी जा सकता है और करने का समय भी अब आ चुका है।"

अतिमानसिक रूपान्तरण की दिशा में पृथ्वीलोक का मार्गदर्शन कराने के लिए अवतरित होकर आने के कारण, प्रकृति की समस्त विरोधी शक्तियों की प्रचण्डता का सामना भी स्वभावतः श्री अरविन्द को ही करना पड़ा। अपने महाकाव्य 'सावित्री' में एक स्थल पर इसी बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है:

"किन्तु जब देवदूत आता करने सहायता विश्व की
ले चलने हो अग्रसर धरती के जीव को ऊर्ध्वमुख
ढोता है भार जुए का भी मुक्ति दिलाने जिससे आया
सहनी होतीं सब यातना-पीड़ा स्वस्थ उसे जिनसे करना है।"

श्री अरविन्द का धरती पर आगमन विशेष रूप से इसी उद्देश्य के लिए हुआ। श्री मां ने दृढ़ शब्दों में कहा : "धरती के इतिहास के आदिकाल से ही एक न एक रूप और एक न एक नाम से, श्री अरविन्द सभी महत्वपूर्ण पार्थिव रूपान्तरों के कर्ताधर्ता रहते आये हैं।" उनका सम्पूर्ण पार्थिव जीवन ही अपने में एक अविराम प्रयत्न था कि अतिमन के अभिव्यक्त होने के लिए अपेक्षित अवस्था को उत्पन्न कर सकें।

दार्जिलिंग और फिर इंग्लैंड में बीते उनके बाल्यकाल ने अंग्रेजी भाषा पर उन्हें इतना पूर्ण अधिकार दे दिया था कि ऊर्ध्ववर्ती-प्रेरणाओं पर, आध्यात्मिक शक्ति और ज्योति से संप्लुत, गद्य या पद्य में जब भी उन्होंने लिखा तो वह उसी प्रकार मान्त्रिक शक्तियुक्त अंग्रेजी में, जिस प्रकार प्राचीन भारत में संस्कृत में लिखा गया। अचूक रूप से उनकी रचनाएं पाठक का उन्नयन करती हैं। सच तो, श्री अरविन्द की रचनाएं उनके अन्तरात्मदर्शन का माध्यम और अभिव्यक्तिकरण दोनों रही हैं। अंग्रेजी भाषा पर ऐसा अधिकार उन्होंने प्राप्त न कर लिया होता तो न अपने को इतने ओजस्वी और प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त कर पाते न अंग्रेजी भाषा-भाषी जगत् तक अपनी अनुभूतियों को संप्रेषित ही कर पाते।

भारत की स्वतन्त्रता के लिए भी जो संघर्ष श्री अरविन्द ने किया, वास्तव में वह भी धरती पर ईश्वरीय साम्राज्य की संस्थापना का एक उपक्रम ही था। वे जब अन्ततः पांडिचेरी आ गये तब उनकी सारी शक्ति और साधना केवल इस ओर संकेन्द्रित नहीं थी कि अतिमानसिक शिखरों तक पहुंच जाएं, बल्कि इस ओर भी थी कि उस अतिमानसिक ज्योति, ज्ञान और शक्ति को उतारकर नीचे मन, प्राण और शरीर के स्तरों पर भी ले जायें और फिर

इनका रूपान्तरण सम्पन्न करें।

उन्होंने स्वयं कहा है : "मैं कुछ भी अपने लिए नहीं कर रहा, क्योंकि मेरी अपनी आवश्यकता कोई है ही नहीं : न मुक्ति की आवश्यकता है न अतिमानसीकरण की ही। मैं तो अतिमानसीकरण के पीछे यदि पड़ा हूं तो केवल इसलिए कि पार्थिव चेतना के लिए वही मात्र तो करणीय है।"

1930-31 में श्री मां ने भी स्पष्ट किया : "चेतना भी एक सोपान-परम्परा जैसी हुआ करती है। प्रत्येक शुभकर युगारम्भ के समय कोई एक महान सत्ता प्रकट होती आयी है जो इतनी सामर्थ्यवान रहती है कि चेतना के अगले स्तर तक पहुंच सकने के लिए उस सोपान-परम्परा में एक डण्डा और जोड़ सके। हमारे लिए यह बिल्कुल शक्य और साध्य है कि उच्चतर स्तर को प्राप्त करें और पार्थिव चेतना से सर्वथा ऊपर उठ जायें। उसके बाद फिर सोपान को थामे रहना आवश्यक नहीं रहेगा।

"विश्व की प्रत्येक युगारम्भ वेला की बड़ी उपलब्धि ही उसकी यह सामर्थ्य रही है कि वह पार्थिव से सम्पर्क खोये बिना ऊर्ध्वतर विकास की उस सोपान-परम्परा में एक और डण्डा जोड़ सकी : शीर्ष विन्दु तक पहुंच पाने की क्षमता को भी विकसित कर सकी और साथ के साथ शिखर और तल, दोनों ही, भागों से भी अपने को संपृक्त रख सकी, जिसमें कि दो विभिन्न स्तरों के सम्बन्ध-सूत्र को रिक्तता आकर भंग न कर पाये। ऊपर शीर्ष तक आरोहण करते जाना और नीचे तल तक अवरोहण करना और फिर शीर्ष और तल दोनों को परस्पर संयुक्त कर देना, इसी में सचमुच साधना और सिद्धि का सारा रहस्य निहित रहता है; और यह सम्पन्न करना तो वस्तुत किसी अवतार के लिए ही शक्य होता है।

"प्रत्येक बार जब कोई अवतार सोपान-परम्परा में डण्डा जोड़ता है तब धरती पर एक नयी सृष्टि हुआ करती है। जो डण्डा इस समय जोड़ा जा रहा है उसे श्री अरविन्द ने 'अतिमानस' नाम दिया है। इसके फलस्वरूप मानव चेतना अतिमानसिक लोक में प्रवेश कर सकेगी और, अपना वैयक्तिक रूप, व्यष्टिभाव को बनाये रखते हुए फिर अवरोहण करके धरती पर नयी

सृष्टि को प्रतिष्ठित कर सकेगी। निश्चय ही चरम और अन्तिम स्थिति वह भी न होगी, क्योंकि इससे भी उच्चतर क्षेत्र-श्रेणियां सत्ता की हैं।

"इस समय तो हमारा सारा प्रयत्न केवल इस ओर लगा हुआ है कि अतिमानस को उतारकर नीचे ले आयें, मानव जगत का एक नये रूप में व्यवस्थीकरण करें, और फिर विश्व को यथार्थ दैवी कोटि में ले आयें। तत्त्वतः इसमें मात्र एक व्यवस्था का विधान करने की ही बात है : एक ऐसी व्यवस्था की बात जहां प्रत्येक वस्तु अपने सही स्थान पर आ जाये। संप्रति जो प्रधान शक्ति क्रियमाण है वह महासरस्वती की है, और महासरस्वती तो पूर्ण और निर्दोष व्यवस्था-विन्यास की अधिष्ठात्री देवी ही हैं!

"आरोहण-अवरोहण और फिर शिखर और तल के परस्पर संयोजन में अविच्छिन्न निरन्तरता प्राप्त करने का सारा कार्य चेतनालोक में ही किया जाता है। जिस किसी भी अवतरित महापुरुष के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होना होता है वह यदि काराओं में भी बन्द हो, किसी से मिल-भेंट तक न सकता हो, तो भी इस कार्य को अबाध रूप से करता रह सकेगा; क्योंकि यह कार्य तो चेतनागत कार्य है, अतिमन और पार्थिव सत्ता को एक-दूसरे से संपृक्त करने का कार्य है। उसे इस बात की भी अपेक्षा नहीं होगी कि सब कहीं सम्मान्य हो, न ही उन दोनों छोरों को परस्पर संयुक्त करने के लिए किसी प्रकार का बाह्य शक्तिभाव ही उसके लिए आवश्यक होगा।

"किन्तु इतना निश्चित है कि जहां एक बार वे दोनों छोर संयुक्त हो गये कि फिर एक अभिनव संरचना के रूप में उसका प्रभाव बाह्य जगत में होगा ही होगा। प्रारम्भ उस संरचना का एक आदर्श नगर से होगा और परिसमापन एक सर्वथा पूर्ण और निर्दोष विश्वलोक से।"

मानव जगत के समक्ष अनेक-अनेक लक्ष्य और आदर्श प्रस्तुत किये जाते रहे हैं : राजनीतिक भी और सामाजिक-आर्थिक भी। मानव जाति इन सबके सहारे अस्पष्ट और अधूरे-अपंग रूप में जीवन की एक ऐसी पद्धति की खोज करती आयी है जिससे प्रत्येक जन अपनी बाह्य और आन्तरिक

श्रेष्ठतमता की सम्भावनाओं को साकार कर सके। पर और भी आगे तक एवं गतिवर्धित क्रम-विकास का आदर्श उसके सम्मुख जैसे कभी नहीं आया। वस्तुतः क्रम-विकास के इस रूप में ही वह यथार्थ सुख, पूर्ण शान्ति, समस्त ज्ञान और दैवी शक्ति-सामर्थ्य निहित हैं जिनकी खोज में मानव प्राणी अब तक भटकता आया है। इस रूप में ही मानव की अनगिन समस्याओं की उन प्राचीरों से विमुक्ति के द्वार का भी दर्शन हो सकता है जिनसे घिरा-बंधा वह अवश हुआ बैठा है।

प्रस्तुत पुस्तक यदि अपने थोड़े से पाठकों को भी अतिमानसिक जीवन-भाव की ओर को प्रेरित और प्रवृत्त कर सके तो यह सार्थक होगी।

—नवजात

विषय-सूची

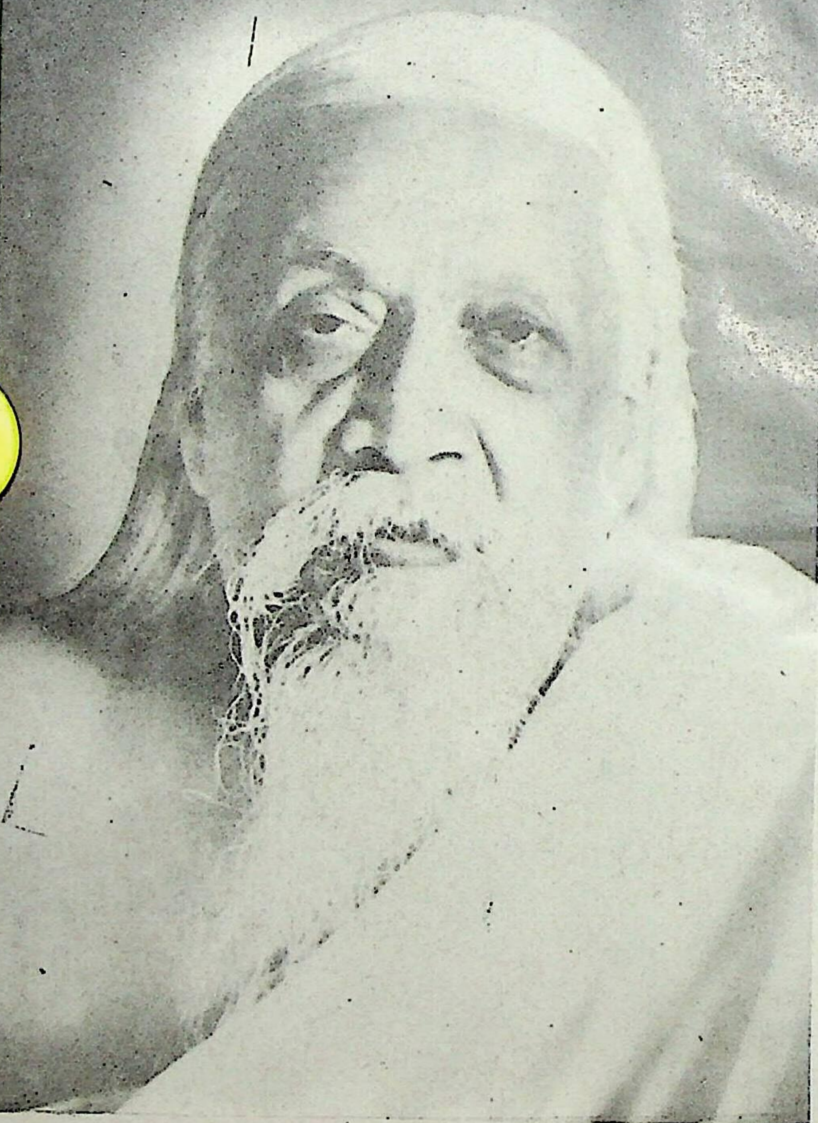
आभार स्वीकृति

लेखक उन सभी मित्रों-बन्धुओं और विशेषकर नलिनीकान्त गुप्त, अमल किरण, जूली मेडलॉक, मेरी ऑल्ड्रिच तथा एम. शिवदास के प्रति आभारी है जिनसे उसे सुझाव-सहायता प्राप्त हुई।

एम. पी. पण्डित का लेखक अनुगृहीत है कि उन्होंने अपनी कृति 'डिक्शनरी ऑव श्री अरविन्दोज योग' से उद्धरण लेने की अनुमति दी।



चित्र 1 : ग्यारह-वर्षीय अरविंद, जब वह मेनचेस्टर में ड्रेविट-परिवार के साथ रहते थे



चित्र 4—अप्रैल 1950. स्वर्गवास से आठ मास पूर्व

1. बाल्यकाल

श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 को बैरिस्टर मनमोहन घोष के यहां कलकत्ते में हुआ था। उस समय सूर्योदय से एक घण्टे पूर्व ठीक साढ़े-चार बजे थे। उनके पिता डॉ. कृष्णधन घोष सरकारी अस्पताल के बड़े डॉक्टर थे। माता थीं स्वर्णलता देवी : भारतीय संस्कृति के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता ऋषि राजनारायण बोस की सबसे बड़ी पुत्री। श्री अरविन्द अपने माता-पिता की तीसरी संतान थे। दो बड़े भाई थे विनयभूषण और मनमोहन।

15 अगस्त को ही रामकृष्ण परमहंस ने महासमाधि ली थी और इसी दिन भारत को स्वतंत्रता भी मिली थी। इस दिन के विशेष आध्यात्मिक महत्व को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है : "15 अगस्त का दिन कुमारी मरियम के 'उद्ग्रहण' का दिन है। इस दिन भौतिक प्रकृति का दिव्य प्रकृति की ओर को उन्नयन होता है। कुमारी मरियम से निर्देश प्रकृति तत्व का होता है; ईसा मनुष्य के रूप में जनमी दैवी आत्मा है : वह ईश्वर का पुत्र भी है, मनु का बेटा भी।"

ऋषि राजनारायण बोस और उनके जामाता कृष्णधन घोष के विचार, भारत की और यूरोप की संस्कृतियों को लेकर, एक-दूसरे से उलटे थे। राजनारायण बोस ने तो अंग्रेजियत के रंग में रंगे जाते बांगालियों को अपने देश की संस्कृति और रीति-परम्पराओं की ओर मोड़ लाने का एक बड़ा साहस-भरा प्रयास 1861 में ही किया था। उन्होंने अपने बांगाली समाज को भरसक प्रेरित किया था कि वे अपनी बांग्ला भाषा में ही लिखा-बोला करें, अंग्रेजी पहिरावे को छोड़ अपनी वेषभूषा में धोती और चादर को बनाये रखें, भारतीय खेलों और व्यायामों को अपनायें, और भारतीय चिकित्सा पद्धति को ही बढ़ावा दें।

वास्तव में उनके मन में अपनी मातृभूमि के लिए प्रगाढ़ प्रेम था। वे जहां भारत के महान् अतीत से अनुप्राणित थे वहीं उसके महानतर भविष्य के प्रति भी आस्थावान थे। उन्होंने तो एक गुप्त समिति का भी संघटन किया था जिसका उद्देश्य एकनिष्ठ होकर भारत की स्वतंत्रता के लिए उद्योग करना था। रवीन्द्रनाथ टैंगोर और उनके भाई ज्योतीन्द्रनाथ टैंगोर इस समिति के सदस्य थे। प्रत्येक सदस्य को यह शपथ लेनी होती थी कि वह बल-प्रयोग द्वारा देश के शत्रुओं का नाश करेगा।

डॉ. कृष्णधन घोष अपने श्वसुर के इन विचारों से सहमत न थे। अपने में वह बड़े योग्य, क्षमतावान, और दृढ़ व्यक्तित्व वाले थे; और उन इनेगिने भारतीयों में से थे जो शिक्षा प्राप्त करने के लिए सबसे पहले ब्रिटेन गये। ऐबर्डीन विश्वविद्यालय से उन्होंने डाक्टरी की डिग्री प्राप्त की थी और जब भारत लौटे थे तो रहन-सहन में ही नहीं, विचार-आदर्शों तक में अंग्रेजियत में पले हुए थे। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया हुआ था कि अपने बच्चों का लालन-पालन और शिक्षण आदि एकदम यूरोपीय ढंग से करायेंगे। अरविन्द भी छुटपन में अंग्रेजी और थोड़ी-बहुत हिन्दुस्तानी ही बोलते थे: मातृभाषा बांग्ला तो उन्होंने इंग्लैंड से लौटने के बाद सीखी।

1877 में अरविन्द और उनके दोनों बड़े भाई दार्जिलिंग के लॉरेटो कॉन्वेण्ट स्कूल भेज दिये गये जहां की सारी देखरेख आयरिश ननों के हाथ में थी। दो वर्ष का जो काल इन्होंने हिमालय की मनोरम दृश्यावली के बीच यहां बिताया उसकी जानकारी नहीं के बराबर मिलती है। श्री अरविन्द को कुछ-कुछ याद वहां के सुनहले फर्न की पांतों के बीच से जाते रास्तों की थी या दो-एक सामान्य-सी घटनाओं की। एक घटना का सम्बन्ध उस लम्बे कमरे से था जहां विद्यार्थियों के सोने की व्यवस्था थी। बड़े भाई मनमोहन का बिस्तर द्वार के पास लगा रहता था। एक बार देर गये रात को अंदर आने के लिए किसी ने खटखटाया। मनमोहन ने कह दिया : "नहीं खोल सकता, मैं सोया हूं।"

दूसरी घटना का सम्बन्ध एक विचित्र स्वप्न से है। श्री अरविन्द ने इसके बारे में विस्तार से बाद को बताया। कहा : "मैं एक दिन लेटा हुआ था। अचानक दिखायी दिया कि एक घने अंधकार का भारी-सा पुंज बड़े वेग के साथ मेरे भीतर को प्रवेश करता चला आ रहा है और उसने मुझे और समूचे विश्व को चारों ओर से छा लिया है। इसके बाद से, जब तक मैं इंग्लैंड रहा, एक गहरा तमस सदा मुझे घेरे रहा। मेरा विश्वास है इस तमस का उस अन्धकार से कोई सम्बन्ध अवश्य था। मुझे उससे मुक्ति तब जाकर मिली जब मैं भारत लौट रहा था।"

2. इंग्लैंड में

मैन्चेस्टर : 1879 से सितम्बर 1884 (आयु : 7-12 वर्ष)

1879 में डॉ. कृष्णधन घोष अपने तीनों लड़कों को शिक्षा के लिए इंग्लैंड ले गये और वहां मैन्चेस्टर में रेवरेण्ड विलियम ड्रियुएट के पास उनके रहने की व्यवस्था की। ड्रियुएट महोदय रंगपुर के मैजिस्ट्रेट ग्लेजियर साहब के भाई लगते थे और डॉ. घोष उन दिनों रंगपुर में ही नियुक्त थे। विलियम ड्रियुएट मैन्चेस्टर में स्टॉकपोर्ट रोड पर स्थित कॉङ्ग्रिगेशनल चर्च में पादरी थे, जिसे ऑक्टेगॅनल चर्च भी कहा जाता था। चर्च के पास ही नम्बर 84 शेक्सपीयर स्ट्रीट में ड्रियुएट परिवार रहा करता था।

अरविन्द के दोनों बड़े भाइयों को मैन्चेस्टर ग्रैमर स्कूल में प्रवेश मिला। स्वयं अरविन्द केवल सात वर्ष के थे इसलिए उन्हें ड्रियुएट दम्पति घर पर ही पढ़ाते थे। रेवरेण्ड ड्रियुएट लैटिन भाषा के बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने अरविन्द को लैटिन और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में दक्ष कर दिया। इतिहास-भूगोल और गणित और फ्रेंच उन्हें श्रीमती ड्रियुएट पढ़ाती थीं। घर पर ही पढ़ने के कारण अरविन्द को अपनी रुचि की पुस्तकें पढ़ने का भरपूर समय और सुयोग मिला। और इन पुस्तकों में जहां बाइबिल आयी वहां शेक्सपीयर, शेली और कीट्स की काव्य-कृतियां भी सम्मिलित थीं। अरविन्द अंग्रेजी काव्य के मात्र अध्येता ही नहीं हुए, उस अल्प वय में उन्होंने 'फॉक्स फैमिली' नामक पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए अनेक कविताओं की रचना भी की।

डॉ. घोष के कड़े आदेश थे कि उनके बच्चे न किसी भारतीय से मिलने दिये जायें न ही किसी अन्य प्रकार से कोई भारतीय प्रभाव उन तक पहुंचने

दिया जाये। इन आदेशों का अक्षरशः पालन भी किया गया। परिणाम यह कि अरविन्द बड़े हुए पर अपने देश और देश के लोक-समाज और धर्म-संस्कृति के विषय में निपट अंधकार में रहते हुए। उनके छोटे भाई बारीन का तो जन्म भी इंग्लैंड में 5 जनवरी 1880 को क्रॉयडन में हुआ था।

एक समय यह झूठी अफवाह तक फैली थी कि अरविन्द को ईसाई बना लिया गया है। इसके मूल में शायद जो घटना रही उसका वर्णन श्री अरविन्द ने इस प्रकार किया है: "एक बार हम लोग जब इंग्लैंड में थे तो नॉन-कन्फर्मिस्ट ईसाई पादरियों की एक बहुत बड़ी सभा कम्बरलैंड में हुई थी। रेवरेण्ड ड्रियुएट की बूढ़ी मां अपने साथ मुझे भी वहां ले गयीं। सारा कार्य-क्रम आदि जब समाप्त हुआ तो लगभग सभी अभ्यागत चले गये, केवल ऐसे ही कुछ व्यक्ति वहां ठहरे रहे जो बहुत धर्म-परायण थे। ऐसे ही समय किसी का यदि धर्म-परिवर्तन करना होता तो प्रायः किया जाता था।

"मैं बैठा-बैठा ऊब चला था। तभी एक पादरी मेरे पास आया और उसने कुछ प्रश्न मुझसे पूछे। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, चुप रहा। एकाएक तब वे लोग जोर-जोर से कहने लगे, 'लो इसका तो उद्धार हुआ, इसका तो उद्धार हुआ!' और मेरे लिए प्रार्थना करते हुए भगवान् को लाख-लाख धन्यवाद देने लगे। मेरी समझ में यह सारा व्यापार बिल्कुल नहीं आ रहा था। वही पादरी एक बार फिर पास आया और मुझसे भी प्रार्थना करने को बोला। मैं तो प्रार्थना आदि कभी करता नहीं था; पर वहां उस समय मैंने कुछ वैसे ही किया जैसे मात्र नियम को रखने के लिए सोने से पहले बच्चे अपनी नियत प्रार्थना का पाठ करते हैं। बस इतना ही सब तो वहां हुआ था। चर्च मैं कुछ दिन भी लगकर कभी गया नहीं; फिर मेरी आयु भी तब केवल 10 वर्ष की थी!"

सेण्ट पॉल्स और कैम्ब्रिज स्कूलों में अरविन्द का नाम 'अरविन्द ऐकरॉएड घोष' लिखा गया था। वास्तव में, वे इंग्लैंड गये उससे बहुत पहले, जिस वर्ष उनका जन्म हुआ उसी वर्ष दिसम्बर में, कुमारी ऐनेट् ऐकरॉएड नाम की एक महिला भारत आयी थीं। यह मनमोहन घोष की मित्र थीं और

बालक के नामकरण के समय वहां उपस्थित थीं। श्री अरविन्द के पिता अंग्रेजी प्रथाओं के प्रेमी थे ही, उन्हें बड़ा चाव आया कि बालक का कोई अंग्रेजी नाम हो, और बस 'अरविन्द' नाम के आगे कुमारी ऐनेट् का कुल-नाम 'ऐकरॉएड' जोड़ दिया गया। बाद में श्री अरविन्द ने नाम के साथ 'ऐकरॉएड' लगाना छोड़ दिया।

श्री अरविन्द जब सात ही वर्ष के थे तब भी उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि एक ऐसा समय आनेवाला है जब चारों ओर भारी उथल-पुथल मचेगी, समूचे विश्व में क्रांतिकारी परिवर्तन होंगे, और उन्हें स्वयं उस समय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निबाहनी होगी।

सितम्बर 1884 से जुलाई 1890 (आयु : 12-18 वर्ष)

सितम्बर 1884 में अरविन्द और उनके भाई मनमोहन का सेण्ट पॉल्स स्कूल में प्रवेश हुआ और इसलिये ये दोनों आकर लंदन रहने लगे। वहां अरविन्द की परीक्षा स्कूल के हैड मास्टर डॉ. वॉकर ने स्वयं ली थी। यह उनकी लैटिन और अन्य विषयों की योग्यता से इतने प्रसन्न हुए कि फिर जो पांच वर्ष अरविन्द वहां विद्यार्थी रहे उस बीच उन्हें ग्रीक भाषा का अभ्यास इन्होंने स्वयं कराया।

अरविन्द ने यहां लगकर क्लैसिक ग्रंथों का अध्ययन किया। उन्हें साहित्य का द्वितीय बटरवर्थ पुरस्कार मिला और इतिहास का बेडफोर्थ पुरस्कार। एक कक्षा से दूसरी में प्रोमोशन भी उनका तेजी से हुआ; क्योंकि हैड-मास्टर वॉकर हृदय से चाहते थे कि इस बालक छात्र को विकास का भरपूर अवसर दिया जाये। स्कूल की साहित्य सभा में भी अरविन्द बराबर भाग लिया करते थे। 1889 में 5 नवम्बर को 'स्विफ्ट के राजनीतिक विचारों में असंगति' विषय पर हुई वाक्-प्रतियोगिता में उन्हें बहुत प्रशंसा मिली थी। ऐसा ही 19 नवम्बर को 'मिल्टन' पर आयोजित प्रतियोगिता के अवसर पर भी हुआ।

सेण्ट पॉल्स स्कूल दिन का था। अरविन्द को प्रारम्भ के तीन वर्ष यहां की पढ़ाई में अपना थोड़ा ही समय लगाना पड़ा। क्योंकि जो-जो भी विषय पढ़ाये जाते थे उन सबको वे पहले ही समाप्त कर चुके थे। इसलिए इस काल में अपना बहुत-कुछ समय उन्होंने व्यापक अध्ययन को दिया, विशेषकर अंग्रेजी और फ्रेंच के काव्य, कथा साहित्य को और यूरोप के समूचे इतिहास को। थोड़ा-थोड़ा समय इतालियन, जर्मन और स्पेनी भाषाओं के अभ्यास में भी उन्होंने लगाया; पर अधिकांश समय उनका स्वयं काव्य-रचना करने में जाता था। उनकी इस काल की एक रचना 'हेक्युबा' को तो लॉरेन्स बिन्यॅन तक से सराहना मिली थी।

लंदन में तीनों भाई कुछ दिन ड्रियुएट महोदय की बूढ़ी मां के साथ रहे। फिर एक दिन धर्म को लेकर मनमोहन के साथ कुछ बात ही हुई और वह चली गयीं। बूढ़ी मां इवैंजेलिस्ट विचारों की थीं और उनका कहना था कि एक नास्तिक के साथ जिस घर में रहेंगी वह घर ही किसी दिन उनके सिर पर आ रहेगा। इसके बाद विनयभूषण और अरविन्द तो साउथ केन्सिग्टन लिबरल क्लब में एक कमरा रहने को पा गये। श्री जे. एस. कॉटन, जो बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर हेनरी कॉटन के भाई थे, इस क्लब के सेक्रेटरी थे और विनयभूषण उनका काम में हाथ बंटा दिया करते थे। मनमोहन किराये के कमरे में रहने लगे। कुछ दिन बाद यही अरविन्द को भी करना पड़ा : अर्थात् जब तक वे कैम्ब्रिज नहीं चले गये।

लंदन के स्कूल जीवन में श्री अरविन्द को बहुत-बहुत कष्ट उठाने पड़े, क्योंकि पैसा भेजने में पिता नियमित नहीं हो पाते थे। एक बार तो एक पूरा वर्ष उन्हें सवेरे को जरा-सा मक्खन लगी डबलरोटी की दो स्लाइस और एक कप चाय और रात को केवल एक पेनीवाला ब्रेडरोल लेकर ही बिताना पड़ा था। आर्थिक कष्टों की इस पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द ने अपनी उन दोनों मकान मालिकिनों की सहृदयता को बार-बार स्मरण किया है जिनके यहां वे भाइयों सहित रहे थे। उन्होंने लिखा है :

"हमारी मकान मालिकिन तो सचमुच फरिश्ता थीं। वह समरसेट की

थीं और शायद विधवा हो जाने के बाद से लंदन आकर रहने लगी थीं। बरसों से स्वयं दुखों की मारी हुई होने पर भी हम लोगों के पैसा न दे पाने पर महीनों-महीनों भी अपने मुंह कभी न मांगतीं। आज मैं सोचता रह जाता हूं कि ऐसे में उनका चलता कैसे होगा। हमें ऐसी दो मकान मालिकिनें मिलीं। पहली तो थीं ही, दूसरी भी बहुत अच्छी थीं। मैंने इनका देना तब चुकाया जब आई. सी. एस. की छात्रवृत्ति मिलने लगी।"

अक्तूबर 1890 से अक्तूबर 1892 (आयु : 18-20 वर्ष)

1890 की अक्तूबर में सेण्ट पॉल्स स्कूल लंदन से अरविन्द किंग्ज कॉलिज कैम्ब्रिज में आ गये। उन्हें अब 80 पौंड वार्षिक की 'सीनियर क्लैसिकल स्कॉलरशिप' मिलने लगी थी। वे क्लैसिकल ट्राइपॅस परीक्षा में डिस्टिंक्शन के साथ प्रथम श्रेणी में आये थे और ग्रीक और लैटिन पद्य के लिए जितने भी पुरस्कार थे उन सबको उन्होंने एक वर्ष में ले लिया था।

पर कैम्ब्रिज से उन्होंने बी. ए. नहीं किया। वे ट्राइपॅस (फर्स्ट क्लास) के प्रथम भाग में बहुत ऊंचे स्थान पर आये थे : बी. ए. की डिग्री प्रायः इसके बाद ही दी जाती है; पर आवश्यक यह होता है कि परीक्षा तीसरे वर्ष हो। अरविन्द के पास सुविधा दो ही वर्ष की थी। उन्होंने परीक्षा दूसरे वर्ष दी। ऐसा करने पर बी. ए. की डिग्री लेने के लिए ट्राइपंस के दूसरे भाग की परीक्षा में चौथे वर्ष बैठना होता है या फिर डिग्री के लिए आवेदन किया जाये। यह अरविन्द को नहीं रुचा। यों भी अंग्रेजी में डिग्री लेने का मूल्य और महत्व उसी दशा में होना था जब पढ़ने-पढ़ाने को ही जीविका बनाना होता!

स्कॉलरशिप की परीक्षा में अरविन्द के क्लैसिकल विषयों के पेपर स्वयं ऑस्कर ब्राउनिंग ने जांचे थे। एक पेपर में शेक्सपीयर और मिल्टन की तुलना पर निबंध लिखने को कहा गया था। संयोग से कॉलिज के एक

वरिष्ठ प्राध्यापक के यहां कॉफी पर एक दिन ऑस्कर ब्राउनिंग से अरविन्द की भेंट हुई। उस विचक्षण व्यक्ति ने बॉल डैंसों के विषय से सहसा स्कॉलरशिप के विषय पर आते हुए कहा : "तुम तो जानते होगे कि परीक्षा में तुमने बहुत अच्छे अंक पाये हैं ? मैं तेरह परीक्षाओं के पेपर जांच चुका हूं, पर कभी जो ऐसे अच्छे किये हुए पेपर देखे हों ! निबंध तो तुम्हारा असाधारण था।"

फिर शायद सहज कुतूहल में वह अरविन्द से उनके रहने के स्थान का पता पूछ उठे। अरविन्द ने बताया तो वह ठक से रह गये। मुंह से इतना ही निकला : "वहां ! उस घिनौने बिल में ?"

अरविन्द के पिता बहुत ही लोकप्रिय थे। जिन दिनों वह रंगपुर में नियुक्त थे तब कैसा भी किसी का काम हो, इन 'डॉक्टर मोशाय' के ही द्वारा सधा करता था। वहां के अंग्रेज मैजिस्ट्रेट ग्लेजियर साहब उनके गहरे मित्र थे। पर ग्लेजियर साहब के टान्सफर होने पर जो दूसरा अंग्रेज रंगपुर आया उससे देखते न बना कि डॉ. घोष का वहां इतना अधिक प्रभाव हो। उसने इनके वहां से टान्सफर के लिए लिखा-पढ़ी की। अंग्रेज की बात : मानी ही जाती ! और डॉ. घोष को खुलना भेज दिया गया।

खुलना में भी डॉ. घोष थोड़े ही दिनों में लोकप्रिय हो गये। पर टान्सफर के सारे मामले से उन्हें बड़ा धक्का पहुंचा। अंग्रेजों की न्याय-भावना पर से उनका विश्वास ही उठ गया। उन्हें अंग्रेजी शासन से चिढ़ हो गयी। अब तक पश्चिम की हर बात और हर चीज प्रारम्भ से ही उन्हें अच्छी ही अच्छी लगती आयी थी। उन्होंने प्रारम्भ से ही मन में साध बांध रखी थी कि उनके लड़के अपने जीवन में भरपूर सफलता प्राप्त करें : और उन दिनों तो इस सफलता का चरम बिन्दु यही माना जाता था कि आई. सी. एस. में आ जायें !

अरविन्द ने 1890 में इंडियन सिविल सर्विस की 'खुली प्रतियोगिता' में सफलता पायी। दोनों नियतकालिक परीक्षाओं और डॉक्टरी जांच में

भी वह पास हुए। स्वयं अपनी ओर से उन्हें कोई आकर्षण आई. सी. एस. के लिए न था; पर वह जानते थे कि नियुक्ति मिलने के अवसर को अस्वीकार करना घर वालों को सहन न होगा। उन्होंने देखा कि आई. सी. एस. में नियुक्ति के लिए घुड़सवारी की परीक्षा में पास होना अनिवार्य होता है। बस, यह परीक्षा उन्होंने नहीं दी और इस प्रकार सीधे से अपने को उसके अयोग्य ठहरा लिया।

अवश्य ऐसे उदाहरण थे कि यह परीक्षा पास किये बिना भी आई. सी. एस. में ले लिया गया और इस कमी को भारत में कहीं नियुक्ति हो जाने के बाद पूरा कराया गया। पर अरविन्द तो स्वयं बचना ही चाहते थे इसलिए न लिये जाने पर उन्होंने संतोष की एक सांस ली। सिविल सर्विस कमीशन की इस विषय में टिप्पणी थी: "श्री ए. ए. घोष को घुड़सवारी की परीक्षा के लिए कई अवसर दिये गये, पर वह हर बार आने में असमर्थ रहे। कमीशन इसलिए प्रमाणित नहीं कर सकता कि वह इण्डियन सिविल सर्विस में नियुक्ति पाने के योग्य हैं।"

वास्तव में अरविन्द के आई. सी. एस. में न लिए जाने का एक और भी कारण था जिसका पता उनकी व्यक्तिगत फाइल पर लगे एक नोट से चलता है। यह नोट लॉर्ड किम्वर्ले का दिया हुआ है जो उन दिनों भारत सचिव थे और इसलिए अरविन्द के राष्ट्रवादी विचारों से अवगत थे। नोट था: "मुझे इसमें बड़ा सन्देह है कि मिस्टर घोष का आई. सी. एस. में आना अभीष्ट होगा।" अरविन्द तो आप ही उससे बच रहे थे और इस प्रकार दोनों पक्षों का मनचाहा हो गया।

भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की कठोर नीतियों के बारे में डॉ. घोष ने अपने लड़कों को भी लिखा था। समय-समय पर वे यहां के समाचार-पत्रों की कतरनें भी भेजते रहते थे। इन कतरनों में जिन घटनाओं का उल्लेख रहता उन्हें अरविन्द पढ़ते तो मन में विदेशी दासता के विरुद्ध क्षोभ और विद्वेष के भाव उमड़ते। पर देश को स्वतंत्र कराने की दिशा में किसी विशेष कार्यक्रम में उनके भाग लेने का निर्णय कोई एक रूप कुछ

वर्षों के बाद ही ले सका। यों, कैम्ब्रिज काल में 'इण्डियन मजलिस' के सदस्य और फिर उसके सेक्रेटरी के नाते जो भाषण उन्होंने दिये थे वे भी बड़े क्रान्तिकारी थे। सच में ये सब भाषण भी कारण थे जो अधिकारियों ने उन्हें आई. सी. एस. से वंजित रखा।

अरविन्द और उनके बड़े भाई विनय लंदन के भारतीयों के उस छोटे-से क्रान्तिकारी दल का भी एक अंग थे जो भारतीय राजनीति के मॉडरेट नेता दादाभाई नौरोजी के नेतृत्व का विरोध किया करता था। अपने इंग्लैंड प्रवास के अंतिम दिनों में तो अरविन्द ने लंदन के भारतीयों की उस 'प्राइवेट मीटिंग' में भी भाग लिया था जहां एक गुप्त समिति का संघटन हुआ और उसे 'कमल और कटार' जैसा रोमानी नाम दिया गया। इस समिति के सदस्यों ने व्रत लिया था कि अपने देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिए उनमें से हरेक कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा। समिति तो बहुत दिन नहीं चल सकी, पर उसके कुछ सदस्यों ने अपने व्रत को निश्चित रूप से पूरा किया। अरविन्द इनमें से ही थे।

अरविन्द को जब आई. सी. एस. के अयोग्य ठहराया गया था तब बड़ौदा नरेश गायकवाड़ लंदन में ही थे। उनसे सर हेनरी कॉटन के भाई ने अरविन्द का परिचय कराया। इसी परिचय के फलस्वरूप अरविन्द को गायकवाड़ के यहां नियुक्ति मिल गयी। और जनवरी 1893 में वे भारत लौटे और अपना कार्यभार संभालने के लिए बड़ौदा पहुंच गये।

इस प्रकार अरविन्द के जीवन का वह काल, जब बालक के मन पर बाहर के संस्कार पड़ा करते हैं, पश्चिमी प्रभावों की अभंग छाया में बीता। पहले वे दार्जिलिंग के कॉन्वेण्ट स्कूल में थे, फिर इंग्लैंड रहे। स्वदेश लौटे तो इक्कीसवें वर्ष में थे और नियति का सोचा हुआ जो महान दायित्व अब उनके सामने था वह देश के स्वतन्त्रता संघर्ष को संघटित करने का और देशवासियों को अपनी संस्कृति के प्रति सचेत करते हुए उन्हें विश्वमंच पर भारत की महत्वपूर्ण भूमिका का बोध कराने का था।

सामान्य रूप से कोई भी सोचेगा कि पूरे 18 वर्ष इंग्लैंड में रहने के बाद

अरविन्द के मन में वहां की संस्कृति और जीवनपद्धति ने घर किया होगा। पर इस बारे में उनका कहना है : "यूरोप के किसी देश के लिए कोई आकर्षण मेरे मन में कभी यदि हुआ तो वह देश, बौद्धिक और भावात्मक स्तर पर, फ्रांस था जहां न मैं कभी रहा न जिसे मैंने कभी देखा, इंग्लैंड तो नहीं।"

इधर डॉ. कृष्णधन घोष लड़कों के लौटने की राह में आंखें बिछाये बैठे थे। पर यह सुख देखना उन्हें बदा न था। क्या जाने कैसे कहीं से उन्हें सूचना मिली कि जिस जहाज से अरविन्द इंग्लैंड से चले थे वह पुर्तगाल तक आते-न-आते डूब गया। स्वभावतः डॉ. घोष ने इससे समझ लिया कि अरविन्द भी डूब ही गये होंगे। इतना आघात लगा इस बात का उन्हें कि हृदय की गति एकबारगी ही रुक गयी। वास्तव में जहाज डूबने का तो समाचार ठीक था, पर जो जहाज डूबा उस पर अरविन्द थे नहीं। वे 'कार्थेज' नाम के एक दूसरे जहाज से आ रहे थे जो रास्ते में एक भयंकर तूफान की लपेट में तो आया पर यहां सुरक्षित पहुंच गया और फरवरी 1893 के प्रारम्भ में बम्बई के बन्दर में लगा।

अपोलो बन्दर में देश की धरती पर अरविन्द के पांव पड़े तो भारत मां ने एक विलक्षण रूप में उनका स्वागत किया। श्री अरविन्द ने लिखा है कि उस समय एक अपार शान्ति का भाव उन पर छा गया था जो चारों ओर से आवृत किये हुए महीनों-महीनों तक बना रहा था। एक शिष्य को भी उन्होंने लिखा था : "जैसे ही मैंने अपोलो बन्दर में भारत की भूमि को छुआ, मुझे आध्यात्मिक अनुभूतियां होने लगीं। पर ये अनुभूतियां इस संसार से अलग-थलग और कटी हुई न थीं, इनका उससे एक निस्सीम और आन्तरिक सम्बन्ध था। ऐसा लगता था मानों एकमात्र वह भागवत सत्ता ही समूचे जगत् में व्याप्त है और वही अन्तर्यामी शक्ति एक-एक भौतिक पदार्थ और एक-एक शरीर में रमी हुई है। इसके साथ ही मैंने स्वयं अपने को भी स्थूल जगत् से परे के उस विश्व में प्रवेश करते हुए पाया जिसके प्रभाव और परिणाम मात्र ही भौतिक स्तर पर प्रकट हुआ करते हैं।"

3. बड़ौदा

8 फरवरी 1893 से श्री अरविन्द बड़ौदा राज्य सेवा में आये। नियम-कायदों को देखते हुए तो वे यहां 18 जून 1907 तक रहे, पर वास्तव में फरवरी से अप्रैल 1906 तक और फिर 12 जून 1906 से 12 जुलाई 1907 तक वे राजनीतिक कार्यों में लगे हुए थे और बराबर अवकाश पर थे। बड़ौदा राज्य सेवा में उनकी नियुक्ति पहले दो सौ रुपये मासिक वेतन पर बन्दोबस्त विभाग में हुई थी, बाद को वे टिकट और मालगुजारी का काम देखने लगे। कुछ दिन उन्होंने बड़ौदा राज्य सचिवालय में भी काम किया।

महाराज बड़ौदा उनसे अपने कुछ निजी काम भी लिया करते थे। किसी महत्वपूर्ण पत्र का प्रारूप तैयार कराना होता, किसी मामले में हुई लिखा-पढ़ी और उसके कागज-पत्रों का संक्षेप बनाना होता, या फिर किसी आवश्यक अनुबन्ध-पत्र को ही रूप आदि देना होता तो उसका सारा काम श्री अरविन्द को ही सौंपा जाता था। मगर एक बार को छोड़, जब कुछ दिनों के लिए महाराज के साथ कश्मीर गये, उनके सचिव के रूप में वे कभी नहीं रहे। एक अवसर पर तो, बापट केस और उस पर आये अदालती विचार-भाव का सार-संक्षेप तैयार करने के लिए, उन्हें विशेष रूप से ऊटी भी भेजा गया था।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जी. एस. सरदेसाई ने अपनी पुस्तक 'सयाजीराव गायकवाड़ यांच्या सहवासांत' में कई ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनका श्री अरविन्द के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है :

"श्री अरविन्द और मैं दोनों ही महाराज सयाजीराव के साथ प्रायः रहा करते थे।...श्री अरविन्द उनके लिए कभी-कभी भाषण आदि भी लिखा

करते थे।...एक बार महाराज को एक सामाजिक समारोह में बोलना था और श्री अरविन्द ने उनका भाषण तैयार किया। महाराज, मैं, और श्री अरविन्द तीनों एक साथ उसे पढ़ने बैठे। महाराज ने पूरा सुनने के बाद कहा : "क्यों अरविन्द बाबू, इसे कुछ हल्का नहीं करना चाहिए ? मेरे लिए तो यह बहुत ऊंचा और परिष्कृत हो गया है।"

"श्री अरविन्द ने मुस्कुराते हुए उत्तर में कहा : "व्यर्थ के लिए क्यों हल्का कराते हैं, महाराज ? कर देने पर भी लोग क्या इसे आपका अपना मानेंगे ? भला या बुरा जैसा भी यह हो, लोग तो सदा यही कहेंगे कि महाराज अपने भाषण किसी और से लिखाया करते हैं। मुख्य बात देखने की एक ही होनी चाहिए कि भाषण में व्यक्त किये गये विचार स्वयं आपके हैं या नहीं। वही इसमें आपका प्रमुख भाग है।"

सरदेसाईजी ने अपनी पुस्तक में यह भी बताया है कि भारत के वाइसरॉय लॉर्ड कर्जन और महाराज सयाजीराव वाली घटना को लेकर भारत सरकार और बड़ौदा राज्य के बीच जो एक लम्बा पत्र-व्यवहार चला था उसका भी अधिकांश श्री अरविन्द के ही द्वारा हुआ था। घटना कुछ ऐसी थी कि महाराज जिन दिनों पैरिस गये हुए थे उन्हीं दिनों लॉर्ड कर्जन का बड़ौदा आने का विचार हुआ और भारत सरकार की ओर से महाराज को जल्दी ही देश लौट आने को कहा गया। महाराज नहीं लौट पाये और लॉर्ड कर्जन ने इससे अपने को अपमानित हुआ समझा।

सरदेसाई महोदय ने एक स्थल पर लिखा है: "उन दिनों प्रायः श्री अरविन्द और मैं एक साथ ही टहलने के लिए जाया करते थे। श्री अरविन्द का स्वभाव था कि वे किसी से भी बोलते-चालते नहीं थे। बिल्कुल चुप, जैसे अपने में ही समाये हुए, रहा करते थे। उनसे कुछ पूछा ही जाता तो बस 'हां' या 'न' में उत्तर दे देते, आगे एक शब्द न कहते। उनमें एक रहस्यमयता-सी बराबर बसी हुई लगा करती थी।"

श्री अरविन्द राज्य के कामों में बहुत अधिक रुचि कभी नहीं लेते थे। महाराज ने एक बार उनकी काम को जल्दी और ठीक से निबटाने की क्षमता

को सराहते हुए उन्हें नियमित और परिश्रमशील बनने का संकेत भी किया था। 1900 में उन्हें अंग्रेजी का प्राध्यापक बनाकर बड़ौदा कॉलेज भेज दिया गया था। इसके अगले ही वर्ष श्री भूपालचन्द्र बसु की पुत्री मृणालिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ।

बड़ौदा कॉलेज में श्री अरविन्द को कुछ दिन फ्रेंच पढ़ाने का काम भी सौंपा गया था। 1903 में उन्हें अपने राजनीतिक कार्य को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से एक मास का अवकाश लेना पड़ा। पर इससे किसी की पढ़ाई न पिछड़ने पाये इसलिए जाने से पहले उन्होंने विद्यार्थियों को घर पर बुलाकर अतिरिक्त समय दिया। फिर 1904 में तो वे कॉलेज के वाइस-प्रिंसिपल ही बना दिये गये।

एक अवसर पर बात चलते श्री अरविन्द ने अपने प्राध्यापन के विषय में बताया था : "मैं प्राध्यापक के रूप में उतना कर्तव्यनिष्ठ कभी नहीं रहा जितने मनमोहन थे। अपने नोट्स आदि तो मैं देखता ही नहीं था, इसीसे कक्षा में जो बताता वह मूल से बहुधा भिन्न हुआ करता था। मैं अंग्रेजी का अध्यापक था और बीच-बीच में मुझे फ्रेंच भी पढ़ानी पड़ती थी। पर सबसे अधिक अचरज मुझे इस बात पर होता था कि मैं जो कुछ भी पढ़ाता उसका एक-एक शब्द विद्यार्थी लोग लिख लिया करते थे। और इतना ही नहीं, उसे वे कण्ठस्थ भी करते थे। इंग्लैंड में ऐसा कभी नहीं होता था।

"बड़ौदा में तो मैंने देखा कि विद्यार्थी लोग, मैं जो कुछ पढ़ाता उसके ही नोट्स नहीं लेते थे, बम्बई के एक अन्य प्राध्यापक के प्रकाशित नोट्स भी पास रखते जिसे वे समझते कि शायद वह उनका परीक्षक बने। एक बार मैं क्लैस में रॉबर्ट सदे की 'लाइफ़ ऑफ नेल्सन' पर बोल रहा था जो उस प्राध्यापक के नोट्स से मेल नहीं खाता था। कुछ विद्यार्थियों ने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया तो मैंने उत्तर में कहा कि मैंने तो कोई नोट्स आदि देखे-पढ़े नहीं हैं पर इतना अवश्य है कि उनमें सब अण्डबण्ड ही बताया गया होगा।"

विद्यार्थी श्री अरविन्द का बहुत आदर-मान करते थे। श्री क. मा. मुंशी

ने, जो स्वयं उनके विद्यार्थी रहे थे, लिखा है : "मैं श्री अरविन्द के संपर्क में 1902 में आया जब मैट्रिक्युलेशन करने के बाद मैंने बड़ौदा कॉलेज में प्रवेश किया। प्रारंभ में तो उनका सम्पर्क मिलने का सौभाग्य कभी-कभार ही होता था, पर आगे चलकर इस गाथा पुरुष के प्रति मैं श्रद्धा से इतना भर उठा था कि वे जब भी अंग्रेजी पढ़ाने के लिए कॉलेज आते, मैं बड़े संभ्रम के साथ उनके मुंह से निकलते एक-एक शब्द को ध्यानपूर्वक ग्रहण किया करता था।"

बड़ौदा में रहते हुए श्री अरविन्द ने संस्कृत, मराठी, गुजराती और बांग्ला सीखीं। मधुसूदन और बंकिम के काव्य को तो वे कुछ ही दिनों में खूब समझने और सराहने लगे थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत और कालिदास, भवभूति आदि का भी गम्भीर अध्ययन किया। यह सब उनके 'भारतीय संस्कृति और जीवन-क्रम के प्रति सहज आकर्षण भाव और जो कुछ भी भारत का है उससे एक स्वाभाविक लगाव और उसे ही अच्छा मानने की भावना के अंतर्गत हो रहा था। थोड़े पे दिनों के लिए भी वे यदि अपने सम्बन्धियों के यहां वैद्यनाथ जाते तो उनके साथ में पुस्तकों से भरे कई-कई ट्रंक अवश्य रहते थे।

उनके नाते की एक बहन वासन्तीदेवी ने ऐसे एक अवसर का वर्णन किया है : "ऑरो दादा जब भी यहां आते उनके साथ दो-तीन भारी-भारी ट्रंक रहा करते थे। हम लोग सोचते : जरूर ये ट्रंक मंहगे-मंहगे सूटों और तेल-फुलेल आदि सुविधा-सामग्रियों से भरे होंगे। पर दादा ट्रंक खोलते और मैं आश्चर्य से देखती रह जाती। यह सब क्या ! इनेगिने मामूली से कपड़ों को छोड़ सब पुस्तकें ही पुस्तकें ! तो क्या ऑरो दादा को पढ़ना ही पढ़ना भाता है ? छुट्टियों में हम लोग तो हंसने-बोलने और मौज मनाने की करते हैं; दादा क्या इन दिनों को भी अपनी पुस्तकों में ही घुला देंगे ? पर दादा को पुस्तकों से सचमुच प्रेम था, इसीलिए अपने साथ वे सदा लाया करते थे। हम लोगों की गपशप और हंसी-खुशी में वे सम्मिलित न होते हों ऐसा भी नहीं था। सचमुच उनकी तो बात-बात में परिहास एवं चटुलता के छींटे रहा करते थे।"

पढ़ने से श्री अरविन्द सचमुच कभी नहीं अघाते थे और किसी भी विषय की कैसी भी पुस्तकें आती नहीं कि वे उनमें डूब जाया करते थे। बम्बई के दो बड़े-बड़े पुस्तक विक्रेताओं को उनका स्थायी आदेश था कि नये-से-नये प्रकाशनों के सूची-पत्र बराबर भेजते रहें। आये दिन पुस्तकों से भरी पेटियां उनके पते पर पहुंचा करती थी जिन्हें उनके परिचित मित्र देखते और भौचक रह जाते थे। श्री अरविन्द अपने वेतन का एक बड़ा भाग भी प्रति मास अलग रख दिया करते थे कि पुस्तकों के बिल चुकाने में कोई कठिनाई कभी न आने पाये।

नित्य रात को वे एक मामूली-सी लालटेन के सहारे देर-देर तक बैठे पढ़ते रहते थे। उन्हें चारों ओर मंडराते झुण्ड के झुण्ड मच्छरों की चिंता भी न होती थी।अनेक बार तो इस बात तक की कि खाने की थाली पास रखी थी और रखी ही रह गयी। सवेरा होता तो भी वे जैसे-तैसे कुछ नाश्ता करते और फिर तत्काल अपने पढ़ने में या कुछ लिखने में लग जाते थे। उनका सिर ऊपर उठता तो तब जब नहाने-खाने और ऑफिस जाने का समय सिर पर ही आ जाता था।

वास्तव में उनका बरसों तक इंग्लैंड रहना उनकी अपनी मूलभूत जीवनदृष्टि के आगे आड़े होकर कभी नहीं आया; और चाहे खानपान हो या वेशभूषा या कोई और ही बात, उनकी यह दृष्टि दिनोंदिन उभरती हुई सामने आती गयी। वे हर बात में इतने सादे और सरल थे कि कभी-कभी तो कष्ट पाने तक की स्थिति बन आती। घर की छत चूती रहे या लोहे की पत्तियों से बुनी हुई चारपाई कसमसाती हो और उस पर डालने को दरी भी न हो, पर उनके लिए इससे कोई अंतर न पड़ता। उनके पढ़ने का विषय-क्षेत्र भी बहुत व्यापक था। जैसी ललक के साथ वे होमर, दान्ते और होरेस को पढ़ते थे वैसे ही संस्कृत के महाकवियों को भी।

1895 में श्री अरविन्द का एक कविता-संग्रह 'सॉङ्ग्ज टु मिर्टिल ऐण्ड अदर पोएम्स' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कुछ रचनायें यूरोप की संस्कृति और परिवेश के प्रभाव का आभास देती हैं और कुछ रचनायें भारत

और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी प्रथम प्रतिक्रियाओं का। संग्रह की दो लम्बी कवितायें, 'उर्वशी' और 'लव ऐण्ड डेथ', बड़ौदा काल की लिखी हुई हैं। 'सावित्री' महाकाव्य की परिकल्पना का प्रारम्भ भी इसी काल में हुआ।

1899 में दीनेन्द्रकुमार रॉय नामक एक बांगाली युवक साहित्यकार ने बांग्ला भाषा का ज्ञान पक्का करने में श्री अरविन्द की बहुत सहायता की और उन्हें इतना अभ्यास करा दिया कि बांग्ला में आसानी से बात करें सकें। श्री अरविन्द से प्रतिदान में उन्होंने जर्मन और फ्रेंच सीखीं। लगभग दो वर्ष यह साथ रहे, और जो शब्द-चित्र इन्होंने अपनी पुस्तक 'श्री अरविन्द प्रसंगे' में श्री अरविन्द का दिया है वह अत्यन्त भावपूर्ण है। लिखा है इन्होंने : "मैं उनके साथ दिन-रात ही रहता था और जितना ही मैं उनकी भाव-भावनाओं से परिचित होता गया उतनी ही मेरी धारणा पुष्ट होती गयी कि वे इस धरती के मानव थे ही नहीं। वे तो सचमुच कोई देवता थे जो किसी शापवश यहां आ गये थे।"

भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन का नारा था 'स्वराज'। इस शब्द का प्रयोग श्री अरविन्द ने भी किया है, पर उससे जो भाव यहां सूचित होता है वह केवल राजनीतिक नहीं आध्यात्मिक भी है। राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता के लिए शुद्ध राजनीतिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले देउस्कर ने अपनी बांग्ला में लिखित पुस्तक 'दाशेर-कॅथा' में किया है। देउस्कर एक सुयोग्य मराठी लेखक थे और कई वर्ष पूर्व आकर बंगाल में बस गये थे।

इस पुस्तक में देउस्कर ने ब्रिटिश जाति का चरित्र-चित्रण ही नहीं किया है, उसके हाथों हो रहे भारत के उस विराट् औद्योगिक शोषण का भी सविस्तार विवरण दिया है जिसने इस देश और इसकी कोटि-कोटि जनता को कंगाल बनाकर रख दिया था। स्वभावतः बंगाल पर इस पुस्तक की गहरी प्रतिक्रिया हुई। बांगाली युवक वर्ग के मानस पर तो यह जैसे छा गयी और, सचमुच, स्वदेशी आंदोलन के वहां उठ खड़े होने के मूल में सबसे अधिक

हाथ था तो इसी एक पुस्तक का। अंग्रेज सरकार तो भयभीत हो ही जाती ! पुस्तक पर तत्काल प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

यहां यह बता देना समीचीन होगा कि प्राचीन धर्मग्रन्थों में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में ही हुआ है। श्री अरविन्द ने उसे आध्यात्मिक और राजनीतिक दोनों अर्थों में लिया है। 2 मार्च 1908 के 'वन्दे मातरम्' में उन्होंने लिखा : "भारत तमाम राष्ट्रों का गुरू है और मनुष्य के जीवन-प्राण की गहन से गहन व्याधियों का चिकित्सक। उसकी यह निर्दिष्ट नियति है कि समूचे विश्व के जीवन को एक नया रूप-आयाम दे और मानव मात्र की आत्मशान्ति को फिर से प्रतिष्ठित करे। पर इस कार्य की अनिवार्य शर्त है 'स्वराज', और इसे तो अभीष्ट दिशा में अग्रसर होने से पहले पूरा करना ही होगा।"

श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारों और सम्बन्धित कार्य-प्रवृत्तियों के तीन मुख्य पक्ष थे :

(क) वह कार्य-विशेष जिससे उन्होंने प्रारम्भ किया, अर्थात् गुप्त रूप से क्रान्तिकारी भावों का प्रचार और संघटन जिसका केन्द्रीय उद्देश्य था सशस्त्र विद्रोह की तैयारी।

(ख) स्वाधीनता के आदर्श के प्रति समूचे राष्ट्र को जाग्रत और सन्नद्ध करने की दृष्टि से सार्वजनिक प्रचार जो स्वयं उनके राजनीतिक क्षेत्र में आने के समय तक अधिकांश भारतवासियों द्वारा अव्यावहारिक और असम्भव, निरी पागलों जैसी कल्पना, माना जाता था। उस समय तक सबकी धारणा यही थी कि ब्रिटिश साम्राज्य इतना अधिक शक्तिशाली है और भारत इतना अधिक शक्तिहीन, अस्त्र-शस्त्रों से सर्वथा वंचित और असमर्थ नपुंसक कि उस प्रकार के किसी प्रयास के सफल होने की बात सोचना भी सपना होगा।

(ग) देश की जनता का इस उद्देश्य से संघटन कि एक खुले और सामूहिक विरोध के भाव को बनाये रख सके और अपने दिनोंदिन

बढ़ते-फैलते असहयोग और सत्याग्रह के द्वारा विदेशी शासन को पंगु और खोखला बना सके। सचमुच भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का विकास, श्री अरविन्द के पॉण्डिचेरी आ जाने के बाद भी, उनके द्वारा निर्धारित नीति पर ही उस समय तक बराबर हुआ जब तक कि स्वराज की प्राप्ति नहीं हो गयी।

श्री अरविन्द ने इंग्लैंड से लौटने के छह मास बाद अगस्त 1893 में पूना के साप्ताहिक 'इन्दुप्रकाश' में एक लेखमाला प्रकाशित की थी। शीर्षक था : 'पुरानों के बदले नये दीप'। यह देश के राष्ट्रवादी आंदोलन के सम्बन्ध में उनके अपने विचारों की प्रथम सार्वजनिक अभिव्यक्ति थी। साप्ताहिक के सम्पादक के. जी. देशपांडे ने इक्कीस वर्षीय श्री अरविन्द का परिचय इन शब्दों में दिया था :

"हमने कुछ दिन हुए पाठकों को देश की वर्तमान राजनीतिक प्रगति पर एक अत्यंत योग्य और सामयिक स्थिति-परिस्थितियों के गंभीर पर्यवेक्षक की लेखमाला प्रकाशित करने का वचन दिया था। हमें प्रसन्नता है कि उस माला का पहला लेख हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। जिस शीर्षक के अंतर्गत इन विचारों को प्रकाशित किया जा रहा है वह है : 'पुरानों के बदले नये दीप'। अवश्य शीर्षक एक रूपक पर आधारित है; पर वह है बड़ा अर्थपूर्ण। प्रस्तुत अंक में लेखमाला की भूमिका दी जा रही है और यह अगले अंक तक जायेगी।

"जिन विचारों को इन लेखों में अभिव्यक्ति दी गयी है वे देश के राजनीतिज्ञों के जो सामान्य रूप से विचार हैं उनसे भिन्न हैं। इस कारण इनका महत्व भी बहुत अधिक हो जाता है। हम देख चुके हैं और कोई सन्देह हमें इस बात में नहीं रह गया है कि राजनीतिक प्रगति की दिशा में हमारे प्रयत्न निश्चय और निरंतरता के साथ नहीं चले। ओज और उत्साह का तो उनमें सदा अभाव रहा। सच तो हमारे राजनीतिक आंदोलन के पीछे हमारे ढोंग और हमारे मिथ्याचार का पाप बराबर लगा आया है। हर बात को तिरछी आंख से देखने का एक फैशन रहा है। आज सच्ची-खरी और यथार्थ

आलोचना की भारी आवश्यकता है। हमारी संस्थाओं की नीवें कहीं भी दृढ़ नहीं हैं : वे किसी भी दम भहरा सकती हैं।

"ऐसी दशा में, जब कि राजनीतिक प्रगति के क्षेत्र में हमारी सारी शक्ति गलत-गलत दिशाओं में खपायी जा रही हो, यह अकर्मण्यता ही नहीं एक अपराध होगा कि हम मौन होकर बैठे रहें।हमारे सामने जितने भी प्रश्न हैं वे सभी आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। मूल बात केवल एक है कि अपने राष्ट्र का निर्माण करना है या नहीं। हमने इन उदारचेता, साहित्यिक प्रतिभा-संपन्न, अनुभवी और लेखन-कुशल सज्जन को यहां प्रस्तुत करना इसीलिए चुना है कि व्यक्तिगत असुविधा और कुछ-का-कुछ समझे जाने का जोखिम रहते हुए भी ये अपने विचारों को निस्संदिग्ध वाणी में और, कहा जा सके तो, एक विशिष्ट भाषा और शैली में व्यक्त करेंगे।

"पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इन लेखों को सावधानी के साथ मन लगाकर बार-बार पढ़ें। हम विश्वास दिला सकते हैं कि उन्हें इनमें ऐसी सामग्री मिलेगी जो सोचने-विचारने के लिए विवश करे और किसी की भी देश-प्रेम की आन्तरिक भावनाओं को निर्विवाद रूप से झकझोर सके।"

9 अगस्त 1893 से इस लेखमाला का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और फरवरी 1894 तक चला। समूचे देश को इसने स्तब्ध ही नहीं कर दिया, हर क्षेत्र में एक खलबली-सी भी मचा दी थी। कुछ उद्धरण यहां-वहां से नीचे दिये हैं :

"कांग्रेस के बारे तो मुझे इतना ही कहना है कि उसके लक्ष्य अयथार्थ हैं; कि उन्हें प्राप्त करने की दिशा में जिस भावना के साथ वह बढ़ रही है उसमें भी न सच्चाई है न निष्ठा का भाव; और कि जो उपाय उसने अपनाये हैं वे तो उपयुक्त नहीं ही हैं, वे व्यक्ति भी योग्य मिट्टी के नहीं जिन्हें नेता के रूप में चुनकर अपना विश्वास उसने सौंपा है। संक्षेप में यह कि हमारी अगुआई आज ऐसों के द्वारा की जा रही है जो स्वयं चक्षुहीन हैं : हां चक्षुहीन नहीं तो अधूरी दृष्टि वाले तो अवश्य ही !"

"राजनीति का सारा रहस्य इस बात में रहता है कि खूब सोच-विचार करके, या निरी सहजबुद्धि के ही सहारे, गहराई तक पैठकर अपनी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक देख-समझ लें और फिर दक्षता से उसका उपयोग करते हुए लाभ उठायें। यही तो है जो हम नहीं कर सके।"

"हममें कमी सचाई की है जो शक्ति का ही दूसरा नाम है।"

"जब तक ऐसा मनोभाव बना रहता है यह समझा ही नहीं जा सकेगा कि अच्छे-से-अच्छे संघटन के लिए भी एक जर्जर और शक्तिशून्य हुए राष्ट्र में नये प्राण फूंक पाना क्यों असम्भव है और क्यों उस अवस्था में आवश्यक यही होता है कि किसी भी बाहरी माध्यम पर भरोसा न करके अपने भीतर से ही प्रारम्भ करें।"

"हमारे समाज का जो सर्वहारा वर्ग है वह घोर अंधकार में डूबा हुआ है…और हमें रुचे या न रुचे पर यहीं वह वर्ग है जहां हमारी जीवन आशा का भरोसा और भविष्य की एकमात्र संभावना निहित हैं।"

श्री अरविन्द के इन लेखों के प्रकाशन से देश-भर के राजनीतिक क्षेत्रों में एक हलचल-सी मच गयी। सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र नेता महादेव गोविन्द रानडे स्वयं साप्ताहिक 'इन्दुप्रकाश' से संबद्ध थे। उन्होंने देशपांडे को चेतावनी दी कि उन पर राजद्रोह तक का अभियोग लगाया जा सकता है। देशपांडे इससे एक भद्दी और नाजुक स्थिति में पड़ गये। उन्होंने श्री अरविन्द से ही अनुरोध किया कि वे या तो अपनी आलोचना का स्वर नरम कर दें या फिर ऐसा कुछ लिखें जो तीखा और पैना न हो।

इस अनुरोध के बाद श्री अरविन्द का उस लेखमाला को आगे चलाने का सारा उत्साह फीका पड़ गया। वे अब राजनीति के व्यावहारिक पक्ष को छोड़कर उसके दार्शनिक पक्ष पर लिखने लगे। पर इससे जल्दी ही उन्हें विरक्ति हो आयी और वे देश की स्थिति का इस दृष्टि से अध्ययन करने की ओर लगे कि अब वास्तव में क्या करना चाहिए यह ठीक से देख-सकें।

उनका पहला कदम 1898-99 में उठा। उन्होंने अपने निजी प्रयत्नों से जतीन्द्रनाथ बैनर्जी नामक एक बंगाली युवक को बड़ौदा राज्य की सेना

में भरती करा लिया था। यही व्यक्ति आगे चलकर निरालम्ब स्वामी नाम से ख्यात हुआ। युवक जतीन देश की स्वतंत्रता के लिए एक विशेष कार्य-योजना लेकर अब बंगाल लौटा। इस योजना के अंतर्गत युवा वर्ग को ऐसी समितियों में संघटित करना था कि जिनका उद्देश्य प्रकट में सांस्कृतिक या बौद्धिक-नैतिक कुछ भी रहता, और यहां-वहां जो समितियां पहले से ही बनी हुई थीं उनके कार्यक्रमों को अब इस योजना के अनुकूल दिशा में मोड़ लाना था। वास्तविक उद्देश्य इस सबका यही था कि युवा वर्ग को ऐसा प्रशिक्षण दे दिया जाये जिससे अन्त को सैनिक कार्यवाही के समय वह सहायक सिद्ध हो सके। योजना को सब कहीं स्वीकार किया गया और वह तेजी से बढ़ चली।

इस बीच श्री अरविन्द एक ऐसी गुप्त समिति के एक सदस्य से भी मिल चुके थे जो देश की स्वतंत्रता को लक्ष्य में रखकर एक व्यापक क्रान्ति की आयोजना के लिए ही बनायी गयी थी। श्री अरविन्द ने इस समिति की नियमानुसार शपथ ग्रहण की थी और बाद को उन्हें बम्बई ले जाकर उसकी महासमिति में भी परिचित कराया गया था।

1901 में बारीन बड़ौदा आये। क्रान्तिकारी कार्य के लिए उन्हें तैयार करने का श्री अरविन्द को यह अच्छा सुयोग मिल गया। और बारीन भी उस गुप्त समिति के सदस्य बन गये। एक हाथ में तलवार और दूसरे में गीता लेकर उन्होंने शपथ ग्रहण की: "जब तक मेरी देह में प्राण हैं और जब तक दासता की बेड़ियों से भारत मुक्त नहीं हो जाता तब तक मैं क्रांति का कार्य करता रहूंगा। समिति की कोई बात या एक भी गतिविधि मैंने यदि किसी भी रूप में कहीं बतायी तो वह मेरे प्राणों के मूल्य पर होगा।"

भारत की स्वतन्त्रता श्री अरविन्द के लिए राजनीति का खेल-भर नहीं थी, वे तो उसे धरती पर भगवान का राज्य लाने की दिशा में पहला चरण मानते थे। उन दिनों बड़ौदा उनका हैड-क्वार्टर भले ही था, पर उनकी राजनीतिक कार्य-प्रवृत्तियां समूचे देश में फैली हुई थीं। बंगाल, गुजरात

और महाराष्ट्र में तो उनका विशेष जोर था।

1902 में श्री अरविन्द इस उद्देश्य से बंगाल गये कि पी. मित्र आदि जो लोग वहां के क्रान्तिकारी दल को चला रहे थे उनसे इस गुप्त समिति की चर्चा करें। फल यह हुआ कि उन सबने भी समिति की शपथ ग्रहण कर ली। एक बात पर यहां ध्यान देना आवश्यक है। समिति के अपने कार्यक्रम में आतंकवाद को कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया था; इस तत्व का समावेश बंगाल में दमन और उसकी प्रतिक्रिया के कारण हुआ।

1902 में ही श्री अरविन्द कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में भी गये। तिलक वहां उपस्थित थे। वे श्री अरविन्द को पण्डाल के बाहर ले आये और लगभग एक घण्टे तक बात करते रहे। उन्होंने सुधारवादी आंदोलन से अपनी विरक्ति प्रकट की और महाराष्ट्र में स्वयं किस प्रकार क्या करना चाहते थे यह सब इन्हें विस्तार से बताया।

1903 में श्री अरविन्द ने 'नो कॉम्प्रोमाइज़' शीर्षक पुस्तक लिखी जिसे क्रान्तिकारी दल के एक सदस्य अविनाश ने गुप्त रूप से प्रकाशित किया।

1904 में उन्होंने कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में भाग लिया। सर हेनरी कॉटन अधिवेशन की अध्यक्षता कर रहे थे और इस पक्ष में थे कि एक 'भारत का संयुक्त राज्य' बनाया जाये जो एक उपनिवेश के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहे। श्री अरविन्द का तो आग्रह सदा ही पूर्ण स्वाधीनता के लिए था।

इसी वर्ष श्री अरविन्द की भेंट चारुचन्द्र दत्त, आई. सी. एस. से हुई और उन्होंने 'भवानी मन्दिर' के घोषणा-पत्र से इन्हें अवगत कराया। यह घोषणा-पत्र श्री अरविन्द ने लिखा था और वास्तव में इसे ही भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन की 'बाइबिल' कहा जा सकता है। दत्त महोदय क्रान्तिकारी दल में आ गये। आई. सी. एस. के एक अन्य सदस्य जी. डी. माडगूळकर भी श्री अरविन्द के और पश्चिमी भारत में चल रहे उनके

क्रान्तिकारी कार्यों के बड़े उत्साही समर्थक थे। 'भवानी मन्दिर घोषणा-पत्र' के कुछ अंश यहां उद्धृत हैं :

"जितना ही अधिक गहराई तक हम जायेंगे उतना ही अधिक अपने को इस बात का कायल पायेंगे कि जो एक चीज नहीं है और जिसे सबसे पहले प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए वह है शक्ति : शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति, नैतिक शक्ति और, इन सबसे बढ़कर, आध्यात्मिक शक्ति जो अन्य सभी शक्तियों का अखूट और अक्षय स्रोत है। हममें यदि शक्ति है तो अन्य जो कुछ भी हो सकता है वह सब अपने आप सरलता से मिल जायेगा। और यदि शक्ति का अभाव है तो हम केवल सपनों में दिखती मानव आकृतियों जैसे होंगे, जिनके हाथ होते हैं पर उनसे न कुछ थामा जा सकता है न कहीं आघात किया जा सकता है, जिनके पांव रहते हैं पर उनसे दौड़ते नहीं बनेगा।"

"इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता जहां एक समूचे राष्ट्र में यों चमत्कारिक और आकस्मिक ढंग से शक्ति हिलोर उठी हो जैसे आधुनिक जापान में। जो सब वहां हुआ उसे समझने और समझाने के लिए अनेक-अनेक वाद और मत प्रस्तुत किये गये थे। वास्तव में उस विराट जागरण का आदि-स्रोत कहां था, उस अखूट शक्ति का उद्भव कहां से हुआ, इसका परिचय जापान के ही मनीषीगण अब दे रहे हैं। उस चमत्कार का प्राण वहां के धर्म में निहित था। एक ओर वेदान्तवादी झोमी के उपदेश और दूसरी ओर सम्राट मिकाडो के रूप में जापान की राष्ट्र-शक्ति की पूजा के मन्त्रदाता शिन्तोधर्म का पुनर्ज्ञान—यही तो थे दो तत्व जिन्होंने उस छोटे-से द्वीप साम्राज्य को इतना समर्थ बना दिया कि पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के उन शक्तिशाली आयुधों को ठीक उसी लाघव और अजेयता के साथ धारण कर सके जिससे अर्जुन ने गाण्डीव को किया था।"

घोषणा-पत्र के परिशिष्ट में श्री अरविन्द ने विस्तार से बताया है कि अब आगे क्या-क्या कार्य करना है और किन-किन नियमों का किस प्रकार पालन करना होगा।

1905 में श्री अरविन्द कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में भी गये। गोपालकृष्ण गोखले अध्यक्ष थे। श्री अरविन्द खुले अधिवेशन में नहीं बैठे; राष्ट्रवादी नेता लोग सब उनके ही स्थान पर आ गये थे। वहीं सबने मिलकर उनके साथ आगे की कार्य-योजना पर विचार-विमर्श किया और फिर उसके अनुसार ही सारा कार्यक्रम चला।

16 अक्तूबर 1905 को हर ओर से विरोध होते हुए भी बंग-भंग किया गया। देश-भर में रोष की एक लहर दौड़ गयी। 'वन्दे मातरम्' के नारे आकाश को चीरने लगे। सरकार की ओर से इन दो शब्दों को मुंह से निकालने पर तत्काल प्रतिबन्ध लगा दिया गया। पर इसका प्रभाव जो उसने सोचा था उससे ठीक उलटा हुआ। ये दो शब्द समूचे राष्ट्र के लिए एक मंत्र बन गये।

वास्तव में 'वन्दे मातरम्' उस गीत की मूल विषयवस्तु है जो 1882 में प्रकाशित बंकिमचन्द्र के उपन्यास 'आनन्दमठ' में आया है। वहां इस गीत को मुसलमान अत्याचारियों और ब्रिटिश व्यापारियों से लोहा लेते हुए विद्रोही संन्यासियों ने मां शक्ति की वन्दना में गाया है। आज वही 'आनन्दमठ' का गीत स्वतंत्र भारत के दो राष्ट्र-गानों में से है।

इस प्रकार श्री अरविन्द देश के स्वाधीनता संघर्ष में प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से बराबर लगे हुए थे। पर यह सारा कार्य उन्हें एक आवरण के पीछे रहकर करना होता था, क्योंकि बड़ौदा राज्य की सेवा से अभी उन्होंने त्याग-पत्र नहीं दिया था।

4. बंगाल

1905 के बंग-भंग से जो स्थिति पैदा हुई उसे श्री अरविन्द ने एक वरदान माना। वे अब प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप में देश के स्वतन्त्रता संघर्ष में लग गये।

14 अप्रैल 1916 को वे बरीसाल कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए गये। सरकार ने इस कांफ्रेंस को अवैध घोषित किया। इस घोषणा के विरोध में वहां एक जुलूस निकाला गया जिसका नेतृत्व श्री अरविन्द, विपिनचन्द्र पॉल और बी. सी. चैटर्जी कर रहे थे। जुलूस पर अंधाधुंध लाठियां बरसायी गयीं जिससे बहुत लोगों के चोटें आयीं। इस घटना के बाद श्री अरविन्द ने विपिन पॉल के साथ बंगाल-भर का एक दौरा किया और जगह-जगह पर सार्वजनिक सभायें कीं। एक जगह तो जिला मैजिस्ट्रेट के रोक लगा देने पर भी सभा की गयी।

मार्च 1906 में बारीन के सुझाव पर 'युगांतर' नाम से एक बांग्ला साप्ताहिक का प्रकाशन आरंभ किया गया। श्री अरविन्द ने इस साप्ताहिक के कितने ही प्रमुख लेख स्वयं लिखे थे और उसकी समूची देखरेख तो सामान्यतः वे करते ही थे। 'युगांतर' खुले विद्रोह का प्रचार करता था: कभी-कभी तो छापामार युद्ध के निर्देश तक उसमें प्रकाशित किये जाते थे। एक बार जब उसके उप-सम्पादक, स्वामी विवेकानन्द के एक भाई, पर मुकदमा चला तो 'युगांतर' ने अंग्रेजी अदालत में सफाई देने से भी इस आधार पर इनकार कर दिया था कि उसे ब्रिटिश सरकार मान्य ही नहीं है।

वास्तव में यही काल था जब उस राष्ट्रवादी कार्यक्रम का प्रवर्तन हुआ जिसका देश-भर ने स्वतन्त्रता के मिलने तक अनुसरण किया और

श्री अरविन्द ही भारत के प्रथम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने 'पूर्ण स्वराज' को खुल्लमखुल्ला देश के राजनीतिक संघर्ष का एकमात्र लक्ष्य घोषित किया। श्री अरविन्द ने उन दिनों अनगिनत लेख भी लिखे थे जिनके द्वारा स्वदेशी चीजों के व्यवहार, विदेशी माल के बहिष्कार, असहयोग, सत्याग्रह, राष्ट्रीय शिक्षा और आपसी विवादों को सुलझाने के लिए पंचायतों की स्थापना आदि का जोरदार शब्दों में समर्थन किया था। और यही कार्यक्रम था वास्तव में जिसे देश-भर ने पूरे उत्साह और पूरी शक्ति के साथ अपनाया भी!

अगस्त 1906 में श्री अरविन्द कलकत्ताके नेशनल कॉलेज, वर्तमान जादवपुर विश्वविद्यालय, में आ गये। वे इस कॉलेज के प्रथम प्रिंसिपल थे और मात्र डेढ़ सौ रुपया मासिक वेतन स्वीकार करके आये थे। कॉलेज की सारी कार्य-व्यवस्था वहां के जातीय शिक्षा परिषद् की देखरेख में चलती थी।

6 अगस्त 1906 को विपिनचन्द्र पॉल ने अपने समाचार-पत्र 'वन्दे मातरम्' का प्रकाशन शुरू किया और सम्पादन-कार्य में सहयोग देने के लिए श्री अरविन्द से अनुरोध किया। श्री अरविन्द ने अपनी सहमति तो दे ही दी, राष्ट्रीय नेताओं की कलकत्ते में एक निजी सभा बुलाकर 'वन्दे मातरम्' को पार्टी के मुख-पत्र के रूप में भी स्वीकार करा दिया। बाद में तो उसके सम्पादन का समूचा ही दायित्व उन्हें संभालना पड़ा : यह अवश्य कि अपना नाम उन्होंने कभी बाहर नहीं आने दिया।

दो वर्ष के लगभग 'वन्दे मातरम्' निकला। श्री अरविन्द जब जेल में थे तब सरकार ने इसे बंद करा दिया। वस्तुतः समाचार-पत्र भारी आर्थिक कठिनाइयों में पड़ा हुआ था और स्वयं सम्पादक मण्डल की इच्छा थी कि मान-सम्मान और ख्याति-प्रतिष्ठा के बने रहते वह बंद हो जाये तो अच्छा। इसी दृष्टि से उन्होंने जानबूझकर एक ऐसा लेख प्रकाशित किया कि सरकार भड़क उठे और कानूनी कार्रवाही करने के लिए विवश हो।

इसी काल में श्री अरविन्द और उनके साथी-सहयोगियों ने कांग्रेस के

कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया, जिसकी अध्यक्षता दादाभाई नौरोजी कर रहे थे, और वहां कांग्रेस के इतिहास में पहली बार 'स्वराज' की मांग का प्रस्ताव पास हुआ। राष्ट्रवादियों ने उसी समय स्पष्ट कर दिया था कि 'स्वराज' से अभिप्राय 'पूर्ण स्वतन्त्रता' से है जिसके अंतर्गत हरेक भारतवासी अपने को विदेशी नियंत्रण से उतना ही मुक्त पायेगा जितना कोई अंग्रेज अपने इंग्लैंड में या अमेरिकी अपने अमेरिका में है। इतना सब होते हुए भी नरमपंथियों ने 'स्वराज' का अर्थ 'उपनिवेशी स्व-शासन' ही लगाया।

24 जुलाई 1907 को श्री अरविन्द और विपिनचन्द्र पॉल के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चलाया गया। बहाना सरकार ने यह पकड़ा था कि उन्होंने किसी पाठक का एक राजद्रोहात्मक लेख या पत्र प्रकाशित किया है। प्रत्यक्ष था कि दोनों को कारात्रास होगा। रविन्द्रनाथ ठाकुर ने तो अपनी प्रसिद्ध कविता 'श्री अरविन्द को श्रद्धांजलि' भी उस अवसर के लिए लिखकर तैयार कर ली थी। पर जब विपिन पॉल से पत्र के सम्पादक का नाम पूछा गया तो उन्होंने अदालत को वताने से इनकार कर दिया। इस अवज्ञा के लिए उन्हें तो छह मास का कारावास दिया गया, पर श्री अरविन्द छोड़ दिये गये क्योंकि उनका सम्पादक होना प्रमाणित नहीं किया जा सका।

नवम्बर 1907 में श्री अरविन्द ने बंगाल प्रांतीय कांफ्रेंस के मिदनापुर और हुगली अधिवेशनों में राष्ट्रवादी पार्टी का नेतृत्व किया। उनका जोर बराबर ही पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए रहा। सच में भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता को वे विश्व के प्रति एक समग्र और अखंड दृष्टि-भावना का अंग मानते थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि भारत को विभिन्न राष्ट्रों के समुदाय में एक विशेष मिशन को पूरा करना है। उन्होंने लिखा था:

"इस आंदोलन के पीछे एक दैवी शक्ति का योग है। काल-पुरुष एक ऐसे प्रचंड आंदोलन के सृजन में लगा हुआ है जिसकी आज इस विश्व को दुर्निवार आवश्यकता है। वह आंदोलन एशिया के पुनरुत्थान का आंदोलन

है, और भारत का पुनरुत्थान उस विराट आंदोलन का एक अंग नहीं, उसकी केंद्रीय आवश्यकता है। भारत तो जैसे उस विशाल मेहराब की पेशानी का मध्यवर्ती पत्थर है, समूचे एशिया की सामूहिक नियति का प्रमुख उत्तराधिकारी है। स्वतन्त्र और सुसंघटित भारत की परिकल्पना तो ऋषियों के देश में जनमी है और यहीं उसने अपनी पूरी महत्ता को भी प्राप्त किया है। इसी देश में एक महान सभ्यता की उस आध्यात्मिक शक्ति का भी संचय हुआ जिसकी आज विश्व को नितांत आवश्यकता है।"

यह थी श्री अरविन्द की दृष्टि-भावना। इंग्लैंड या इंग्लैंड के लोगों के प्रति तो घृणा की कोई रेखा भी उनके मन में कभी नहीं थी।

26 दिसम्बर 1907 को श्री अरविन्द कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में पहुंचे। राष्ट्रवादियों और नरमपंथियों के बीच की खाई इस बीच और बढ़ चुकी थी। सारी दरार की केंद्रभूमि वही प्रस्ताव था जो कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में पास किया गया था। राष्ट्रवादी चाहते थे कि उस प्रस्ताव को ही आधार मानकर अब उसके कार्यान्वयन की दिशा में आगे बढ़ा जाये। नरमपंथी लोग उस प्रस्ताव को बाध्यकारी ही नहीं मानते थे।

स्वागत समिति में नरमपंथियों का बहुमत था। इसलिए राष्ट्रवादियों ने उस मामले को खुले अधिवेशन में उठाने की योजना बनायी। अध्यक्ष के चुनाव को लेकर झगड़े का प्रारम्भ हुआ। सुरेन्द्रनाथ ने डॉ. राशबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया; तिलक थे लाजपतराय के पक्ष में। नरम दल के वॉलण्टियर लोग इस पर भड़क गये और उन्होंने तिलक को ही मारने के लिए कुरसी उठायी। राष्ट्रवादियों ने मंच पर जूता फेंका और फिर ऊपर जा चढ़े। चारों तरफ पंडाल में एक हुल्लड़ मच गया और नरमपंथियों ने घबराकर पुलिस को बुला लिया।

बाद को एक बार एक निजी पत्र में इस घटना का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द ने बताया: "बहुत कम लोग जानते हैं कि उस आदेश को (तिलक से परामर्श तक किये बिना) देने वाला वास्तव में मैं था जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के अंत को दो टुकड़े हुए।"

5. अलीपुर केस

कलकत्ते के उस उत्तरी भाग में, जिसे माणिकतल्ला गार्डेन कहते हैं, श्री अरविन्द की कुछ पारिवारिक सम्पत्ति थी। बारीन ने वहां क्रान्तिकारियों का एक केंद्र स्थापित कर लिया था। ये लोग वहां नित्य बैठकर गीता और क्रान्तिकारी साहित्य का अध्ययन और ध्यान-चिंतन ही नहीं, बम बनाने का भी अभ्यास किया करते थे। एक बात यहां ध्यान देने के योग्य है कि आतंकवाद श्री अरविन्द का लक्ष्य कभी न था। यह बाद में हुआ। वे तो देश-भर में खुली और सशस्त्र क्रान्ति कराने के पक्ष में थे।

अंग्रेज सरकार राष्ट्रवादियों की पूर्ण स्वतंत्रता की मांग को सुन-सुनकर बहुत अधिक विचलित हो गयी थी। उसने कड़े-कड़े दण्ड देकर क्रान्तिकारियों के जी में दहशत बिठानी चाही। कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट मिस्टर किंग्सफॅर्ड ने तो सुशील सेन नाम के एक पंद्रह वर्ष के तरुण को अपने सामने खड़ा कराके कोड़े लगवाये। सुशील सेन बेहोश-अधमुआ होकर नीचे ढुरक गया। इस घटना को क्रान्तिकारियों ने अपमान और चुनौती के रूप में लिया और खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने बदला लेने की ठानी।

किंग्सफॅर्ड ने अपने लिए वहां जोखम देख जैसे-तैसे मुजफ्फरपुर की बदली करा ली। पर दोनों नवयुवकों ने उसका पीछा किया और 30 अप्रैल 1908 को मुजफ्फरपुर के एक क्लब के फाटक से बाहर जाती हुई एक गाड़ी पर बम फेंका। उन्होंने सोचा था कि गाड़ी में स्वयं किंग्सफॅर्ड होगा। वास्तव में उसमें दो निरपराध महिलायें, मिसेज केनेडी और उनकी पुत्री थीं और वे दोनों मारी गयीं।

जैसे ही इस घटना का समाचार श्री अरविन्द को मिला, उन्होंने बारीन को माणिकतल्ला गार्डेन से तत्काल अपने साथियों और सारे सामान को हटा

लेने के लिए कहा। बारीन ने हटाया तो, पर पूरी तरह से नहीं। इसका परिणाम एक सिरे से सभी को भुगतना पड़ा। 2 मई 1908 को पुलिस ने वहां छापा मारा और बम और कितने ही और हथियार भी बरामद किये। बारीन को उनके साथियों सहित वहां के वहां गिरफ्तार कर लिया गया।

श्री अरविन्द को धर-दबोचने के लिए जिसे अवसर की सरकार को बहुत दिनों से खोज थी वह उसे इस प्रकार सहज ही मिल गया। यद्यपि किंग्स फर्ड के कांड और उन दोनों महिलाओं की दुर्घटना से श्री अरविन्द का कोई सम्बन्ध न था तो भी 3 मई 1908 को तड़के ही उनके ग्रेस्ट्रीट्र वाले घर को पुलिस ने घेरा और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। घर के कोने-कोने की अच्छी तरह तलाशी ली गयी और उनके जितने भी लेख और पत्र आदि हाथ आ सके सबको पुलिस ले गयी।

पहले श्री अरविन्द को लाल बाजार थाने ले जाया गया, वहां से फिर अलीपुर जेल। 5 मई 1908 से उनका अभियुक्त के रूप में बंदी-जीवन शुरू हुआ और पूरे एक वर्ष बाद 6 मई 1908 को उन्हें जेल से मुक्त किया गया।

जो ऐतिहासिक केस उन पर चलाया गया था वही अलीपुर केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस केस में कुल 49 अभियुक्त थे और 206 साक्षी; 400 कागज, पत्र अदालत में दाखिल किये गये थे और एक 'एग्जीबिट्स' की संख्या तो 5000 थी। इन 'एग्जीबिट्स' में बम-रिवॉल्वर थे, गोली-बारूद थीं; फ्यूज-पलीते और तरह-तरह के तेजाब थे। एक अभियुक्त, नारदेन्द्र गोस्वामी को सरकारी गवाह बनाने के लिए पुलिस ने तोड़ लिया था; इसलिए कन्हाईलाल दत्त और सत्येन बोस ने मिलकर उसे गोली मार दी। कन्हाईलाल को इसका मूल्य अपने प्राणों से चुकाना पड़ा, उसे फांसी हुई।

श्री अरविन्द और उनके साथी अभियुक्तों पर यह केस कलकत्ते के अतिरिक्त सेशन जज सी. बी. बीचक्रॉफ्ट की अदालत में चला था। बीचक्रॉफ्ट महोदय सिविलियन वर्ग के थे और किंग्ज कॉलेज कैम्ब्रिज में

भी अरविन्द के समकालीन रह चुके थे। दोनों ही बड़े अच्छे विद्यार्थी थे, पर ग्रीक भाषा की फाइनल परीक्षा में जज बीचक्रॉफ्ट से अभियुक्त अरविन्द बाजी ले गये थे। अदालत में इन अभियुक्तों को लोहे के जाल से घिरे कटघरे में खड़ा किया जाता था और चारों तरफ संगीनों का पहरा रहता था। मुख्य सरकारी वकील, अर्ड्ले नॉर्टन, अपने सामने ब्रीफकेस पर भरा हुआ रिवॉल्वर हरदम तैयार रखता था।

श्री अरविन्द अपराधी प्रमाणित हों और उन्हें दंड दिया जाये, इसके लिए कुछ भी करने से उठा नहीं रखा गया। स्वयं बीचक्रॉफ्ट ने अपने निर्णय के प्रारम्भिक भाग में लिखा : "मैं अब अरविन्द घोष पर आता हूं जो इस केस के सबसे महत्वपूर्ण अभियुक्त हैं। यही एकमात्र ऐसे अभियुक्त भी हैं जिन्हें अपराधी ठहराने की सरकारी पक्ष को सबसे अधिक चिंता रही है और, यह स्वयं यदि कठघरे में बंद न रहते तो, इसमें कोई संदेह नहीं कि यह केस कभी का खत्म हो चुका होता।"

श्री अरविन्द की ओर से चित्तरंजन दास पैरवी कर रहे थे। उन्होंने अदालत का ध्यान श्री अरविन्द के बयान के इस अंश की ओर दिलाया :

"यहां मेरा तो केस बस इतना है। यदि आरोप का तात्पर्य यह है कि मैंने अपने देश के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता के आदर्श का प्रचार किया, जो कानून के विरुद्ध है, तो मैं इस अपराध को स्वीकार करता हूं। स्वतन्त्रता के आदर्श का प्रचार करना यदि अपराध होता है तो मैं मानता हूं कि यह अपराध मैंने किया है। मैंने उससे कभी नाहीं ही नहीं की। मैं तो सचमुच पश्चिम के ही राजनीतिक विचार-दर्शन को सदा अपनाता आया हूं और वेदांत की शाश्वत शिक्षाओं के साथ उसी का समायोजन मैंने किया है।

"मैंने वास्तव में अनुभव किया कि अपने देशवासियों को यह प्रतीत करा देने की अपेक्षा मुझसे की गयी है कि भारत का एक अपना विशेष मिशन है जो उसे विश्व के राष्ट्र समुदाय में संपन्न करना है।

"यह भी यदि अपराध होता है तो मुझे आप हथकड़ी-बेड़ियों में डाल सकते हैं, जेल भेज सकते हैं, पर उस अभियोग का नकार मेरे मुंह से कभी नहीं निकलवा सकेंगे। मैं तो यहां तक भी निवेदन करने का साहस करूंगा कि कानून की ऐसी कोई दफा ही नहीं है जो स्वतन्त्रता के आदर्श का प्रचार करने के लिए मेरे ऊपर लगायी जा सकती हो; और जहां तक बात उन कामों की होती है जिनके करने का अपराध मेरे ऊपर लगाया गया है, मैं निवेदन करूंगा कि रेकॉर्ड पर उनका कोई सबूत नहीं है: उस प्रकार के काम तो, मैं आज तक जो कुछ भी कहता और लिखता आया हूं और जो कुछ भी मेरी आंतरिक प्रवृत्तियों के बारे में स्वयं इस रेकॉर्ड से प्रकट हो सकता है, उससे किसी तरह मेल नहीं खाते।"

आगे चलकर चित्तरंजन दास ने अदालत को संबोधन करते हुए कहा:

"मैं इसलिए आपसे निवेदन करूंगा कि यह इस प्रकार का व्यक्ति, जिस पर अभियोग ऐसे अपराधों के लिए लगाया जा रहा है जो मात्र आरोपित हैं, यहां इस अदालत के ही सामने नहीं खड़ा है बल्कि इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खड़ा है। मैं निवेदन करूंगा कि जब इस सारे विवाद पर मौन की परतें पड़ चुकी होंगी, जब इस आन्दोलन और खलबली का चिह्न भी शेष न होगा, जब यह व्यक्ति स्वयं भी जीवन से विदा लेकर कभी का जा चुका होगा, उसके भी बहुत-बहुत बरसों बाद दुनिया इसे देश-भक्ति के द्रष्टा कवि, राष्ट्रीयता के प्रवक्ता और निखिल मानवता के प्रेमी के रूप में ही जाने और मानेगी। यह व्यक्ति मर-खपकर धूल-मिट्टी हो चुका होगा उसके बरसों-बरस बाद भी इसकी वाणी दूर-दूर तक के जल और थल को पार कर देश-देश में गूंजती और अनुगूंजती रहा करेगी। इसीलिए मैं कह रहा हूं कि यह व्यक्ति आज इस अदालत के ही सामने नहीं, इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खड़ा है।

"वह समय आ गया है जब, श्रीमान्, आप विचार करें कि आपका

न्याय-निर्णय क्या हो और, जूरी के सज्जनगण, आप भी विचार करें कि आपका पंच-निर्णय क्या हो। मेरी तो आपसे प्रार्थना, श्रीमान्, इंग्लैंड की उस न्यायपीठ की तमाम परंपराओं के नाम पर है जो वहां के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय बना हुआ है। मेरी अनुनय उस सभी के नाम पर है जो श्रेष्ठ और महान है, कानून के उन सैकड़ों सिद्धांतों के नाम पर है जिनका सृजन इंग्लैंड की न्यायपीठ ने किया है। मेरा अनुरोध उन यशस्वी न्यायाधीशों के नाम पर है जिन्होंने न्यायदंड का संचालन ऐसे ढंग से किया कि उसे मानने की विवशता भी हुई और माननेवालों को उसके प्रति श्रद्धा भी रही। आपसे मेरी अपील इंग्लैंड के शानदार इतिहास के नाम पर है कि यह न कहा जाने दें कि एक अंग्रेज न्यायाधीश की कुर्सी पर था और उससे न्याय की रक्षा करने में चूक हो गयी।"

फिर भारतीय जूरी को संबोधित करते हुए श्री दास ने कहा: "और आपसे तो सज्जनगण, मेरी अपील उसी आदर्श के नाम पर है जिसका अरविन्द ने प्रचार किया, उन तमाम परंपराओं के नाम पर है जो हमारी हैं, हमारे अपने देश की हैं। आप क्या यह कहा जाने देंगे कि इस अभियुक्त के ही देश के दो व्यक्ति थे जो अपने ही आवेगों और पूर्वाग्रहों से हार गये और एक तत्कालीन हो-हल्ले के आगे झुक गये ?"

अंत को अदालत ने अपना निर्णय दिया: "धारा 121, 121 ए, और 122 के अनुसार नरेन बक्शी, शैलेन्द्रकुमार सेन, नलिनीकांत गुप्त, पूर्णचंद्र सेन, विजयकुमार नाग, कुंजलाल शाबा, हेमेन्द्रनाथ घोष, धरिणीनाथ गुप्त, वीरेन्द्रनाथ घोष, विजय भट्टाचार्य, हेमचंद्र सेन, प्रवासचंद्र दे, दीनदयाल बोस, निखिलेश्वर रॉय मालिक, देवव्रत बोस, अरविन्द घोष अपराधी नहीं पाये गये और धारा 123 के अनुसार अभियुक्तों में से कोई भी अपराधी प्रमाणित नहीं हुआ।"—सी. बी. बीचक्रॉफ्ट।

इस प्रकार श्री अरविन्द और उक्त 15 जन को मुक्त कर दिया गया।

अन्य सबको दोषी पाया गया। बारीन और उल्लासकर को मृत्युदंड मिला, पर यह बाद को घटाकर आजीवन कारावास में बदल दिया गया। 1920 में फिर इन्हें भी मुक्त कर दिया गया

6. योग-साधना

अलीपुर केस से मुक्त होने के बाद धरती पर श्री अरविन्द के जीवन-उद्देश्य का नया अध्याय शुरू हुआ। उनकी अंतरात्मा ने उन्हें बताया था कि भारत का स्वतन्त्र होना तो निश्चित है, देश को यह लक्ष्य और इसे प्राप्त करने के उपाय दिखाये जा चुके हैं, उन्हें इसलिए अब अगले चरण की तैयारी करनी चाहिए। यह अगला चरण था: निखिल मानव जाति की विमुक्ति श्री अरविन्द जेल में थे तभी उन्होंने अंतरात्मा की यह वाणी सुनी थी: "तुम्हारे लिए मैंने एक और ही कार्य नियत कर रखा है, उसीके उद्देश्य से तुम्हें यहां लायी हूं। तुम अपने से जो नहीं सीख सकते थे वह तुम्हें यहां सिखाकर मैं अपने कार्य के योग्य बना लेना चाहती हूं।"

जेल से बाहर आने पर श्री अरविन्द का पहला भाषण उत्तरपाड़ा में हुआ था। वहां उन्होंने कहा था: "मैं अब यह नहीं कहता कि राष्ट्रीयता एक सिद्धांत या धर्म या आस्था है; मैं तो यह कहता हूं कि हमारा जो 'सनातन धर्म' है वही हमारे लिए हमारी राष्ट्रीयता है। हिन्दू राष्ट्र इस 'सनातन धर्म' के साथ जनमा था, इसके साथ ही उसमें गति और प्रगति आती है, और इसके साथ ही उसकी संवृद्धि भी होती है। जब इस 'सनातन धर्म' का ह्रास होता है तब राष्ट्र की अवनति होती है, और यदि इस 'सनातन धर्म' का क्षय हो सकता है तो उसके साथ-साथ राष्ट्र का भी नाश होगा। इस प्रकार 'सनातन धर्म' का ही अर्थ हुआ राष्ट्रीयता। मेरे पास तो आपके लिए यही संदेश है।"

जून 1909 के 'कर्मयोगी' में भी उन्होंने लिखा: "योग का अर्थ तो भगवान के साथ ज्ञान के लिए या प्रेम या किसी कर्म के लिए सम्पृक्त हो जाना होता है। जो एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मनुष्य के भीतर और

बाहर सतत विद्यमान है उसीके साथ योगी अपने को सीधे और घनिष्ठ संपर्क में बांध लेता है। वह उस अनंत के साथ समस्वर हुआ रहता है और भगवान अपनी सहज मंगलमयता या क्रियात्मक उपकारशीलता में अपने को इस विश्व पर जिस शक्ति के रूप में उंडेला करते हैं उसका माध्यम बन जाता है।

"मनुष्य जब अपने स्व का केंचुल त्यागकर ऊपर उठ आये और दूसरों के लिए, दूसरों के सुख-दुख में ही, जिया करता हो; जब उसके प्रत्येक कार्य में दक्षता, प्रेम और उत्साह का भाव होता हो पर उसे स्वयं न फल की चिंता रहती हो न जय का चाव या पराजय का भय होता हो; जब उसका कोई भी कर्म एक भक्त मन का ही कर्म होता हो और वह अपने एक-एक विचार और शब्द तक को देवता की वेदी पर समर्पित किया करता हो; जब वह भय और घृणा, जुगुप्सा और आसक्ति से मुक्त होकर, प्रकृति के तत्वों की नाई स्थिर और अथक भाव से, अवश्यम्भावी समझकर, पूरी दक्षता के साथ कार्यरत रहता हो; जब उसे ऐसे कोई विचार न घेरते हों कि वह तो मात्र एक देह या हृदय या मन या इनका एक योगफल ही है, बल्कि उसे अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो चुका हो; जब वह अपनी अमर्त्यता और मृत्यु की अवास्तविकता से अवगत हो गया हो; जब उसे ज्ञान के आविर्भाव की अनुभूति होती हो और प्रतीत होता हो कि वह स्वयं निष्क्रिय है, केवल दैवी शक्ति उसके मन, उसकी वाणी, उसकी इन्द्रियों और उसके एक-एक अवयव के द्वारा अबाध रूप में कार्य कर रही है; जब इस प्रकार वह जो कुछ अपने में है, जो कुछ करता है, या जो कुछ उसके पास हैं, वह सभी कुछ उस मानवमात्र के प्रेमी और सहायी, सबके प्रभु को समर्पित कर चुके होने पर अब स्वयं भगवान में वास करता हो और शोक-संताप, अस्थिरता-अशान्ति, मिथ्या क्षोभ और आवेश की छाया तक उसे न छू पाती हो—तब जो अवस्था होती है वही योग की अवस्था है।

"आसन-प्राणायाम, मन की एकाग्रता, पूजा-अर्चा, अनुष्ठान और धर्माचरण : ये कोई भी अपने में योग नहीं, योग की दिशा के साधन मात्र हैं।

पर योग का मार्ग कठिन और जोखम-भरा भी नहीं हुआ करता। जो लोग अपने अन्तःस्थ पथदर्शक और गुरू का आश्रय लेते हैं उनके लिए यह सुगम और निरापद हुआ करता है। योग की साधना कर सकें, इसकी क्षमता सभी मनुष्यों में रहती हैं। सच तो ऐसा कोई मनुष्य ही नहीं होता जिसमें बल या श्रद्धा या प्रेम का विकास न हुआ हो या अव्यक्त रूप में ही उसकी प्रकृति में समाया हुआ न हो। और इनमें से किसी एक का भी होना योगी के लिए एक बड़ा सहारा बनता है। यह ठीक है कि सब कोई एक ही जन्म में योग-मार्ग के शिखर तक नहीं पहुंच पाते। पर उस दिशा में कुछ-न-कुछ आगे तो सभी बढ़ सकते हैं; और जिस अनुपात में कोई मनुष्य आगे बढ़ गया होता है उसी में उसको शान्ति-शक्ति और आनन्द की उपलब्धि हुआ करती है। इतना तो निर्विवाद है कि इस 'धर्म' का अल्प से अल्प अंश भी किसी मनुष्य को या राष्ट्र को बड़े से बड़े भय और त्रास से विमुक्त करा देता है।

"मैं फिर कहूंगा कि आध्यात्मिकता को जीवन से पृथक् समझना भूल है। ईशोपनिषद् में कहा गया है: "सबका परित्याग कर कि सबका आनन्द लाभ कर सके; ऐसी किसी वस्तु की मनोकामना मत कर जो दूसरे की है। पर संसार में जो कार्य तेरा है उसे तू अवश्य कर और अपने पूरे सौ वर्ष जीने की इच्छा रख। कर्मों के बंधन से छूटने का तेरे लिए दूसरा मार्ग नहीं है।" वास्तव में यह सोचना ही भूल है कि धर्म की चरम सीमाएं संसार के संघर्षों से परे हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बार-बार पुकार कर संघर्ष के ही लिए आग्रह किया है: 'युद्ध कर और अपने शत्रुओं को पराजित कर, मेरा स्मरण कर और युद्ध कर; तू कामना-रहित और ममत्वमुक्त होकर, धर्मनिष्ठ और अध्यात्मचेता भाव से अपने समस्त कर्मों को मुझमें समर्पित कर दे और युद्ध कर! उठ और अपने मन-प्राण के सारे सन्ताप को गत-विगत होने दे!'

"यह समझना ही भूल होगी कि कोई धर्मपरायण मनुष्य अपनी सामान्य कार्य-प्रवृत्तियों से विरत तक न हो और फिर भी इतना सात्विक, इतना साधुमना, और इतना प्रेमपूर्ण या रागरहित हो जाये कि संसार के असम-विषम कार्यों के अर्थ का ही न रह जाये। गीता में इसके विरोधी भाव का

जो उत्तर दिया गया है उससे अधिक खरा-पूरा और दो-टूक उत्तर दूसरा न होगा : "जिस मनुष्य ने अपनी प्रकृति को अहंकार भाव से विमुक्त कर लिया है, जिस मनुष्य की अंतरात्मा सांसारिक कर्मों में लिप्त नहीं होती, वह मनुष्य समूचे संसार की भी हत्या कर दे तो न हत्यारा बनता है न उसके पाप से ही बंधता है।"

जिस योग की साधना श्री अरविन्द ने बड़ौदा रहते शुरू की थी वह अब प्रत्यक्ष रूप से उनके जीवन का ही मिशन बन गया। उनके इस योग के, जिसे उन्होंने 'पूर्णयोग' नाम दिया है, मूलभूत उपागम तीन हैं : अभीप्सा, समर्पण, परित्याग।

श्री अरविन्द 1904 से ही प्राणायाम का अभ्यास करने लगे थे। अपने अनुभवों का उल्लेख उन्होंने कुछ इस प्रकार किया है : "प्राणायाम के तो बड़े असाधारण परिणाम सामने आये। अनेक प्रकार के दृश्य और अनेक-अनेक आकृतियां और रूप मुझे दिखायी दिया करते। सिर में चारों ओर ऐसा लगता मानों बिजली भर गयी हो। मैं दिनों से देखता आया था कि मेरी लेखन-शक्ति लगभग चुक आयी है; वह अब सहसा बड़े जोरों के साथ फिर जी उठी और मैं गद्य और काव्य दोनों ही पूरे प्रवाह के साथ लिखने लगा। वह प्रवाह निरन्तर बना हुआ है, कभी रुका नहीं। बाद के दिनों में मैंने यदि लिखा नहीं तो वह केवल इसलिए कि मेरे आगे कुछ और काम था। पर जिस क्षण भी मैं लिखना चाहूं : वह शक्ति और प्रवाह ज्यों के त्यों बने हुए हैं।

"तीसरी बात, मेरा स्वास्थ्य कितना अच्छा हो गया ! मैं हृष्ट-पुष्ट हुआ और शक्ति भी बहुत बढ़ गयी। मेरी त्वचा में चिकनापन आया और रंग निखर उठा। मुंह की लार भी अब मीठापन लिये रहती है। इतना ही नहीं, मुखमंडल के चारों ओर एक दीप्ति का आभास होता है। कितने-कितने मच्छर हैं यहां, पर मेरे निकट कभी कोई नहीं आते।"

श्री अरविन्द ने अपनी कुछ अन्य अनुभूतियों का भी उल्लेख किया है : "उसके बाद एक नागा संन्यासी भी मेरे पास आये और उन्होंने मुझे काली

का एक स्तुति-मंत्र दिया। वह मंत्र बड़ा उग्र था : उसमें 'जाही' (मारण) तक जाता था। मैं बहुत दिनों तक उसका जप करता रहा, पर कोई परिणाम मेरे देखने में तो आया नहीं।

"गंगानाथ से मैं ब्रह्मानन्द की मृत्यु के बाद मिला। उस समय केशवानन्द भी वहां उपस्थित थे।

"इन्हीं दिनों मैंने मांसाहार छोड़ा। उसके बाद से मुझे अपनी सारी देह में हल्केपन और स्वच्छता का अनुभव होने लगा।

"तब तक मेरे मन पर यूरोप के प्रभाव बने हुए थे। इसलिए स्वभावतः देवी-देवताओं पर मुझे विश्वास न था। पर एक बार मैं चंदोद के पास कर्नाली गया हुआ था। वहां देवी-देवताओं के बहुत से मन्दिर हैं। एक मन्दिर काली का भी है। और मेरी दृष्टि प्रतिमा की ओर गयी तो मुझे स्वयं भगवती का जीता-जागता स्वरूप दिखा। यह प्रथम अवसर था कि भगवान की उपस्थिति की मुझे साक्षात् प्रतीति हुई।

"बाद को जब बंगाल जाना पड़ा और मैं राजनीतिक कार्यों में उलझ गया तो प्राणायाम का अभ्यास अनियमित हो चला। वहां तो एक बार बीमार भी ऐसा पड़ा कि चलाचली तक हो आयी।"

वास्तव में श्री अरविन्द को तो प्राणायाम आदि का अभ्यास शुरू करने से पहले भी कई प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूतियां हुई थीं। वे 1893 में जब इंग्लैंड से लौटकर आये और जैसे ही उन्होंने अपोलो बंदर में भारत की पुण्यभूमि पर पांव रखा, एक विराट् शान्ति का भाव उन्हें चारों ओर से आवृत करता हुआ अनुभव हुआ था। दूसरे अध्याय में इस घटना का उल्लेख भी किया गया है।

अप्रैल 1903 में वे जब कश्मीर की यात्रा पर थे और वहां शंकराचार्य की पहाड़ी पर पहुंचे, जिसे तख्त-ए-सुलेमान भी कहा जाता है, तब उस स्थान पर उन्हें एक शून्य अनन्तता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था। यही अनुभूति थी जिसका उन्होंने 'अद्वैत' शीर्षक कविता में वर्णन किया—

अद्वैत

मैं चला विचरा ऊंचे चढ़ता सुलेमान के तख्त पर
जहां खड़ा टक बांधे शंकराचार्य का वह लघु मन्दिर
काल-छोर से पसरी अनन्तता सम्मुख, वह एकाकी
धरती के निष्फल प्रणय-साक्ष्य उस उत्थान शून्य शिखर पर

था चतुर्दिक् व्याप्त मेरे परम एकान्त अरूप अकाम
बन गया सब दृश्यमान विलक्षण नामहीन एक अनाम
धरती-सी निपट नग्ना थी अजन्मा एक अनन्य सत्ता
ऊंची व्योमातीत निस्सीम अथाह और शाश्वत नित्य

सभी क्षणिक का उन्मूलन कर थी अधिष्ठित अगम गिरि पर
वह निश्चल नीरवता अनादि अशब्द सत् का केवल स्वर
कैसी अद्वय स्थिरता थी कैसी शून्य अपरिवर्ती शान्ति
छायी जो प्रकृति के शत-शत रहस्यों की मूक शिखा पर

श्री अरविन्द ने अनेक गुह्य घटना-दृश्यों का साक्षात्कार 1901 में ही कर लिया था जब बारीन प्लैन्शेट पर प्रयोग किया करते थे। बारीन ने उन दिनों इस विषय की कोई पुस्तक पढ़ी थी और बहुत समय तक तरह-तरह के प्रयोगों में लगे रहे थे। इनमें से कई प्रयोग महत्वपूर्ण भी माने गये : कुछ घटनाएं नीचे दी हैं—

एक : एक बार बारीन ने अपने पिता डॉ. कृष्णधन घोष की आत्मा को बुलाया। उत्तर मिला कि आत्मा उपस्थित है। बारीन ने उससे कोई पहचान बताने को कहा। उस आत्मा ने एक घड़ी की याद दिलायी जो बारीन को पहले कभी दी गयी थी और वह भूल गये थे पर अब सुनते ही जिसका ध्यान उन्हें हो आया। बारीन ने पिता की आत्मा से कोई और पक्का प्रमाण देने का आग्रह किया। इस पर उन्होंने एक चित्र का हवाला दिया और

उसे देवधर नामक एक सज्जन के यहां दीवार पर टंगा हुआ बताया। पता किया गया तो वहां ऐसा कोई चित्र न था। उस आत्मा को जो अपने को डॉ. कृष्णधन घोष की आत्मा कहती थी, यह बताया गया तो उसने अपनी बात पर जोर देकर फिर ठीक से देखने को कहा। सब लोगों ने जाकर अच्छी तरह तलाश की तो सचमुच देखा कि चित्र दीवार पर चिपका है पर उस पर घर की पुताई होते समय चूने की मोटी परत चढ़ गयी है।

दो : एक अन्य बैठक के अवसर पर प्रमुख राष्ट्रीय नेता तिलक की आत्मा उपस्थित थी। डॉ. कृष्णधन घोष की आत्मा को बुलाया गया और उससे पूछा गया कि तिलक कैसे व्यक्ति हैं। उसका उत्तर था : "तुम्हारा सारा किया-धरा जब चौपट हो जायेगा और तुममें से कितनों की ही गरदनें नीचे को झुकी होंगी, उस समय भी यही एक व्यक्ति होगा जिसका सिर ऊंचा रहेगा।" और समय आने पर यह बात सच ही उतरी।

तीन : एक दिन इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस की आत्मा को बुलाया गया और उससे अनेक-अनेक प्रश्न पूछे गये। देर तक तो वह चुप रही, फिर एकदम से जाते-जाते बोली : "मन्दिर बनाओ ! मन्दिर बनाओ !"

बड़ौदा-काल का एक और रोचक अनुभव है जिसका सम्बन्ध एक ऐसी दुर्घटना से है जो होने से बाल-बाल बची। श्री अरविन्द उस दिन अपनी गाड़ी में कैम्प रोड से शहर की ओर जा रहे थे। आमबाग के पास से निकले तो उन्हें लगा जैसे कोई दुर्घटना होने को है। उस समय उन्होंने स्पष्ट देखा कि दुर्घटना को बचाने की बात मन में आते ही एक ज्योति-पुरुष ऐसे प्रकट हुआ मानों वहां पहले से विद्यमान था और उसने एक क्षण में ही स्थिति को अपने हाथ में लेकर संभाल लिया।

एक संदर्भ में श्री अरविन्द ने रोग के असाध्य हो जाने की अवस्था में भगवान से प्रार्थना करने के फल का भी वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है : "मेरी चचेरी बहन टाइफॉएड से मरणासन्न थीं। डॉक्टर लोग अपनी-सी सब कुछ करके हार गये और अन्त में कह गये कि अब भगवान को गुहारने के सिवा अपने हाथ में कुछ नहीं है। तब घर में सबने मिलकर भगवान के

आगे अरजोई की और थोड़ी देर बाद बहन को होश हो आया।

"एक और उदाहरण माधवराव के लड़के का है जो नवसारी में मरणासन्न हो गया था। डॉक्टरों ने अन्तिम आशा भी छोड़ दी थी। माधवराव ने घरवालों को तार दिया कि दवा-दारू सब बंद कर दें और केवल भगवान को पुकारें। यही किया गया और लड़का अच्छा हो गया। मुझे इस घटना का स्वयं पता है। वह तार माधवराव ने मुझे दिखाया था।"

रोगों को दूर करने में योग शक्ति भी कितना-कितना काम कर सकती है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण श्री अरविन्द को पहले-पहल तब मिला जब बारीन अमरकंटक की पहाड़ियों में घूमते-भटकते पहाड़ी ज्वर से भयंकर रूप से पीड़ित हो गये और एक नागा साधु ने उन्हें मंत्र के द्वारा चंगा किया। साधु ने पानी भरा एक गिलास लिया था और मंत्र पढ़ते हुए पानी को चाकू से आर-पार काटा और बारीन को पिला दिया था। साधु ने कहा था कि बुखार अब आने का नाम भी न लेगा। और सचमुच बुखार फिर नहीं आया !

श्री अरविन्द ने जो पत्र अपनी पत्नी मृणालिनी को लिखे उनसे भी उनके आध्यात्मिकतापूर्ण जीवन पर प्रकाश पड़ता है। 30 अगस्त 1905 को उन्होंने लिखा था :

"दुख तो हमारी सांसारिक कामनाओं का एक अनिवार्य परिणाम हुआ करता है...

"मेरे तो तीन पागलपन हैं। पहला है मेरा यह दृढ़ विश्वास कि जो भी सद्गुण, प्रतिभा, उच्च शिक्षा, ज्ञान और धन ईश्वर ने मुझे दिया है वह सब उसीका है। मुझे उसमें से मात्र उतना खर्च करने का अधिकार है जितना परिवार के निर्वाह के लिए आवश्यक है और वह भी केवल उन चीजों पर खर्च करने के लिए जिनके बिना चल न सके।

"दूसरा पागलपन मेरे ऊपर हाल में सवार हुआ है। वह है कि मुझे जो भी उपाय करना पड़े पर भगवान की प्रत्यक्ष अनुभूति मैं करूंगा ही। आज तो धर्म बस इसमें रह गया है कि जब-तब भगवान का नाम जपलें, सबके

सामने उसकी स्तुति-पूजा किया करें, और सब कहीं दिखायें कि हम कितने धर्म-परायण हैं। मुझे यह सब नहीं चाहिए। भगवान यदि है तो कोई-न-कोई उपाय अवश्य होगा जिससे उसकी सत्ता की, उसके होने की, अनुभूति भी की जा सके। जिससे उसकी विद्यमानता को प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। वह मार्ग कितना भी कठिन क्यों न हो, मैं संकल्प कर चुका हूं कि उसका अनुसरण अवश्य करना है। हिन्दू धर्म का दावा है कि वह मार्ग हमारे अपने अंदर, अपने ही मन के भीतर, मिलेगा। और यह नियम, जिसके सहारे कोई भी उस मार्ग पर चल सकता है, मेरे लिए भी खुला है।

"मेरा तीसरा पागलपन है कि जहां अन्य लोग देश को मात्र एक जड़ विषय समझते हैं; उसे मैदान-खेत, जंगल-पर्वत, नदी-घाटी के ही रूप में देखते और मानते हैं, मेरे लिए मेरा देश मेरी मां है। मैं इसकी मां के ही रूप में भक्ति और पूजा करता हूं। मां की छाती पर जब कोई दानव चढ़ा हुआ उसका रक्तपान कर रहा हो तब कोई भी बेटा क्या करेगा ? चैन से बैठा हुआ खाया-पिया करेगा और पत्नी-बच्चों के बीच रंग-रलियां मनाता रहेगा, या इस सबकी सोचेगा भी नहीं और मां की रक्षा के लिए दौड़ पड़ेगा ? मैं जानता हूं कि इस दुर्दशा से इस अधोगत जाति को उबार लेने की शक्ति मुझ में है। शारीरिक शक्ति की बात नहीं है, तलवार-बंदूक से मुझे युद्ध नहीं करना है; मुझे तो ज्ञान की शक्ति लेकर संघर्ष करना है। योद्धा का बल शारीरिक शक्ति ही नहीं हुआ करता, ब्रह्मबल उससे कहीं बढ़-चढ़कर होता है जिसका आधार ज्ञान होता है। यह भावना मेरे अंदर नयी नहीं उपजी है, कहीं से यह हाल में भी नहीं आ गयी; मैं तो इसे अपने में लिये हुए जनमा था, यह मेरी मज्जा में समायी हुई है। मुझे भगवान ने धरती पर भेजा ही इस मिशन को पूरा करने के लिए है।"

17 फरवरी 1907 को जो एक और पत्र उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा उससे प्रकट है कि श्री अरविन्द नित्य के जीवन में भी अपने को कितनी सम्पूर्णता के साथ भगवान की इच्छा के अधीन कर चुके थे :

"तुमसे 4 जनवरी को मिलने आना ठीक हो चुका था। फिर भी मैं आ

नहीं सका। ऐसा मेरी इच्छा से हुआ हो, सो नहीं। मुझे तो भगवान जहां ले गये वहां जाना पड़ा। इस बार तो किसी निजी काम के लिए भी नहीं गया : भगवान' का अपना ही काम था। मेरे मन की स्थिति इन दिनों बिलकुल बदल गयी है। पत्र में इससे अधिक लिख भी नहीं सकूंगा। तुम यहीं आ जाओ, फिर जो कहना है सब कहूंगा। पत्र में तो इतना ही और कह सकता हूं कि मैं अब अपने अधिकार में नहीं रह गया। मुझे तो भगवान जिधर ले जायें उधर ही कठपुतली बने हुए जाना पड़ेगा; वह जो भी करायेंगे मुझे करना ही होगा।"

किंतु श्री अरविन्द के इस समर्पण भाव का पूर्ण वैभवयुक्त रूप देखने के लिए मृणालिनी देवी जीवित रही नहीं। ग्यारह वर्ष बाद दिसम्बर 1918 में पांडिचेरी आते हुए वे इन्फ्लुएन्ज़ा से पीड़ित हुई और रास्ते में ही चल बसीं।

दिसम्बर 1907 में श्री अरविन्द ने बारीन से किसी ऐसे व्यक्ति से भेंट करा देने के लिए कहा जो योग-साधना में उनकी सहायता कर सके। बारीन ने एक महाराष्ट्रीय योगी, विष्णु प्रभाकर लेले, के विषय में सुन रखा था। लेलेजी बड़ौदा बुला लिये गये। श्री अरविन्द उनके साथ केवल तीन दिन सरदार मजूमदार के बड़ौदावाले घर में सबसे ऊपर के कमरे में रहे थे।

लेलेजी ने उनसे कहा था : "बैठकर ध्यान से देखोगे तो पाओगे कि ये तमाम विचार, जो तुम्हें अपने ही भीतर उठते हुए लगते हैं, वास्तव में बाहर से आकर प्रवेश कर रहे हैं। तुम इन्हें प्रवेश करने से पहले ही बाहर के बाहर दूर को झटक दो।" श्री अरविन्द ने ध्यानपूर्वक देखा तो बात ऐसी ही पायी। उन्होंने प्रत्यक्ष/देखा कि एकाएक विचार किस प्रकार बाहर से आता है और सामने से या ऊपर से सिर मे प्रवेश करने की कोशिश करता है और फिर किस प्रकार उसे आगे बढ़ने से रोककर पीछे को ही झटके के साथ फेंका जा सका। उन तीन दिनों में या वास्तव में तो केवल एक दिन में

ही, उनके चित्त को एक परम शान्तिपूर्ण अचंचलता ने आपूर्त कर लिया था। यही थी सचमुच संप्राप्ति उस शाश्वत अशब्द की जो दिशा और काल से परे है, जो स्वयं ब्रह्म है।

जिन चार बोधानुभूतियों पर श्री अरविन्द का योग आधारित है उनमें से यह पहली थी। यह अनुभूति उन्हें जब पहले-पहल हुई तब उसके साथ ही साथ अभिभूत करती हुई यह भावना और संप्रतीति भी आयी कि संसार तो वास्तव में मिथ्या है। किन्तु यह भाव धीरे-धीरे लुप्त हो गया जब वह अलीपुर जेल में थे और उन्हें अपनी दूसरी बोधानुभूति प्राप्त हुई कि संपूर्ण विश्व में एक ही चेतना सर्वत्र व्याप्त है और संसार का प्राणिमात्र और अन्य जो कुछ भी अस्तित्वमान है वह सब स्वयं भगवान है।

यहीं पर यह भी बता देना समीचीन रहेगा कि 1908 में जब श्री अरविन्द ने योगी लेले के साथ बैठकर ध्यान-चिंतन किया था और यह अवस्था प्राप्त की थी कि चित्त में एक शांत अचंचलता हरदम बनी रहे उसके बाद से फिर उनके सभी कार्य-व्यवहार, यहां तक कि लेखन और भाषण आदि भी, इस प्रकार होने लगे थे मानों मन के बहुत परे के किसी स्रोत-मूल से उद्‌भूत हो रहे हों।

जनवरी 1908 में वे बंबई गये तो निरन्तर जैसे इसी शान्ति-चांचल्यमुक्त ब्रह्मचेतना की भावस्थिति में थे। उस अवस्था में किसी भी प्रकार का कोई विचार उनके मन में आता ही न था। बंबई में उन्हें नैशनल यूनियन में भाषण करना था। उन्होंने लेलेजी से पूछा : "क्या करूं मैं अब ?" लेलेजी ने उत्तर में बताया कि वे मीटिंग में जायें, श्रोतागण को नारायण मानकर नमस्कार करें, और फिर वाणी आप-से-आप कण्ठ से फूट चलेगी। और सचमुच वाणी फूटी : और उनका भाषण हुआ।

योगी लेले के विदा होने के समय श्री अरविन्द ने उनसे आगे के लिए निर्देश मांगे थे। लेलेजी विस्तार से बताने ही लगे थे कि श्री अरविन्द ने अकस्मात् मन में उठे एक मंत्र की चर्चा की। सुनकर लेलेजी ने कहा कि अब वे अपनी संपूर्ण आस्था उसी अंतःस्थित भगवान में रखकर चलें जिसने

वह मंत्र दिया; उन्हें अब किसी प्रकार के बाहरी निर्देशन की आवश्यकता नहीं रही। इसके बाद से श्री अरविन्द ने सचमुच ही अपने को बिलकुल उस अंतःस्थ मार्गदर्शक के हाथों सौंप दिया।

कई बरस के बाद एक संदर्भ में उन्होंने लिखा : "मेरे अंतःस्थ दैवी मार्गदर्शक ने मुझे सदा प्रेरित किया कि मैं एक के बाद एक अनुभूति प्राप्त करता हुआ, ऊंचाइयों के शिखर के बाद शिखर को छूता हुआ, एक क्षण को भी कहीं न रुकते हुए, निरंतर आगे बढ़ता जाऊं; और किसी भी उपलब्धि को तब तक अंतिम न मान लूं जब तक कि अतिमानस के साक्षात् दर्शन न कर लूं।"

श्री अरविन्द को जो दूसरी बोधानुभूति अलीपुर जेल में हुई थी उसका थोड़ा-सा वर्णन उनके उत्तरपाड़ा वाले भाषण में आया है। उन्होंने कहा था :

"भगवान ने तो मेरे जेलरों तक का मन मेरी ओर को फेर दिया। उन लोगों ने जाकर जेल के अंग्रेज इंचार्ज से कहा : "इन्हें हरदम इस कोठरी में बंद रहने से सचमुच बड़ा कष्ट होता होगा; क्यों न सवेरे-शाम आध घण्टे के ही लिए यहां बाहर घूम लेने की अनुमति दे दी जाये ?" और यह व्यवस्था कर दी गयी थी; और मैं एक दिन इस प्रकार घूम ही रहा था कि भागवत शक्ति का मेरे अंदर फिर प्रवेश हुआ।

"मेरी दृष्टि जेल की दीवारों की ओर गयी जो मुझे मनुष्य जगत् से काटे हुए खड़ी थीं और मैंने सहसा अनुभव किया कि मुझे घेरे हुए वे ऊंची-ऊंची दीवारें वहां थीं ही नहीं; हां, नहीं थीं; वहां तो अब स्वयं वासुदेव थे, चारों ओर से मुझे छाये हुए ! मैं अपनी कोठरी के सामनेवाले पेड़ के नीचे पहुंचा, पर वह भी तो अब पेड़ न था : वहां भी वासुदेव थे; मैंने श्रीकृष्ण को स्वयं सामने खड़े देखा, अपनी विशाल बाहें मेरे ऊपर फैलाये हुए ! उस कोठरी की निपट उदासी, वे सीखचे जिन्हें द्वार के नाम का गौरव दिया गया था—उनमें भी मुझे वासुदेव का ही दर्शन हो रहा था।

द्वार पर पहरा देते हुए भी नारायण खड़े थे; और बिछौने के नाम पर जो मोटा-खुरदरा कम्बल मिला हुआ था उसे अब लपेटकर लेटा तो उसमें भी मुझे अंग-अंग पर अपने परम सखा और प्रेमी श्रीकृष्ण की ही भुजाओं का स्पर्श अनुभव हुआ।

"भगवान ने जो अंतर्दृष्टि मुझे दी थी उसका यह प्रथम लाभ हुआ था। मेरी दृष्टि अब जेल में बंद चोर, डाकू, ठग और खूनियों पर जाती तो मुझे उनमें वासुदेव के ही दर्शन मिलते: हां, अंधकार में सड़ती हुई उन आत्माओं और दुरुपयोग में पड़कर नष्ट होती उन नरदेहों में नारायण का ही साक्षात्कार हुआ।"

अलीपुर जेल में रहते हुए श्री अरविन्द अनवरत ध्यान और चिंतन द्वारा अन्य दोनों अनुभूतियों की दिशा में भी बराबर अग्रसर हो रहे थे। ये दोनों अनुभूतियां थीं: परमार्थ तत्व की अनुभूति जिसके निष्क्रिय ब्रह्म और गत्यात्मक ब्रह्म दो पक्ष होते हैं, और चेतना के उच्चतर स्तरों की अनुभूति जहां से अतिमन की दिशा खुलती है। श्री अरविन्द को जेल में कई अन्य बड़े रोचक अनुभव भी हुए जिनका समय-समय पर उन्होंने वर्णन किया है। क्रोध से सम्बन्धित एक अनुभव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है:

"मैंने एक दिन क्रोध के भाव को उठते हुए और मुझे अपने वश में करते हुए देखा। बड़ा आश्चर्य हुआ मुझे इस पर क्योंकि क्रोध तो जैसे मेरी प्रकृति के ही लिए एक बिलकुल अजानी बात था।

"एक और दिन, शायद 1908 में ही जब मैं अलीपुर जेल में था और केस चल रहा था तब क्रोध के ही कारण एक भयंकर अनर्थ होते-होते सौभाग्य से बच गया। वहां बंदियों को अपनी-अपनी कोठरी में प्रवेश करने से पहले देर-देर तक बाहर लाइन में खड़े रहना पड़ता था। उस दिन हम लोग इसी प्रकार खड़े हो रहे थे कि हमारा गोरा वार्डर इधर को आया और उसने मुझे एक धक्का-सा दिया। मेरे आसपास जो युवक बंदी खड़े थे

वे इस पर उत्तेजित हो गये। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया, केवल उस वार्डर की ओर एक ऐसी कड़ी आंख से देखा कि वह उसी दम जेलर को बुलाने दौड़ा। युवक बंदियों की उत्तेजना एक से दूसरे तक फैलती गयी और उस वार्डर को एक सीख देने के लिए वे सब मेरे चारों ओर जुटकर खड़े हो गये। जेलर कुछ धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था; हम लोगों के निकट पहुंचा तो शिकायत के नाम उस वार्डर के मुंह से इतना ही निकला कि मैंने उसकी ओर बड़े 'उद्धतपने' से घूरा था। जेलर ने मुझसे पूछा। मैंने कह दिया कि मैं तो उस प्रकार के व्यवहार का आदी ही नहीं हूं। जेलर ने सभी को शान्त किया और फिर जाते-जाते बोला, "हम में से हरेक को ही अपना-अपना सलीब ढोना होता है!"

श्री अरविन्द ने एक और अनुभूति का भी उल्लेख किया है जिसका सम्बन्ध कला-परख की क्षमता से है। उन्होंने लिखा है:

"मुझे मूर्तिकला के विषय में तो थोड़ा-बहुत ज्ञान था, पर चित्रकला की समझ बिल्कुल न थी। एक दिन अलीपुर जेल में ध्यान करते हुए अचानक दिखा कि मेरी कोठरी की दीवारों पर चित्र ही चित्र बने हुए हैं और, जैसे उसी क्षण, मुझे कला-दृष्टि आप से आप मिल गयी। मैंने पाया कि चित्रकला के स्थूल तकनीकी पक्ष को छोड़ इस विषय की मुझे अब भरपूर ज्ञान है। तकनीक का ज्ञान न होने के कारण यह तो बहुत बार मैं नहीं समझ पाता था कि किस प्रकार अपने को व्यक्त करूं, पर कला को बारीकी और गहरायी से परख सकने की क्षमता में कोई बाधा उससे कभी नहीं आयी। इसी से समझा जा सकता है कि योग के द्वारा सभी कुछ संभव है।"

अलीपुर जेल में ही जो एक अनुभूति उन्हें आकाश में उठ जाने की हुई उसका भी उन्होंने वर्णन किया है:

"उन दिनों मैं प्राणचेतना के स्तर पर तीव्र साधना में लगा हुआ था। एक दिन गहरी एकाग्रता की स्थिति थी और भीतर मन में यह जिज्ञासा चल रही थी कि उत्थापन आदि सिद्धियां भी होती हैं क्या? सहसा मैंने पाया कि मैं भूमि से कुछ इस प्रकार ऊपर को उठ गया हूं जैसा अपने से कितना भी प्रयास करने से नहीं हो सकता था। मात्र एक अंग जरा-सा धरती को छुए हुए था, शेष समूची देह ऊपर को उठ गयी थी। उस तरह पर, सामान्य रूप से मैं चाहता भी तो टिका नहीं रह सकता था। पर मैं काफी देर तक अधर में बना रहा और मुझे जैसे कुछ लग ही नहीं रहा था।"

श्री अरविन्द को अलीपुर जेल की ही एक और विशेष अनुभूति भी है जिसका सम्बन्ध विवेकानन्द की उपस्थिति से है। उन्होंने लिखा है:

"यह घटना सत्य है कि जेल में मुझे ध्यानावस्था में दो सप्ताह तक निरन्तर विवेकानन्द की आवाज सुनायी पड़ती रही और उनकी उपस्थिति का भान होता रहा। उस आवाज ने आध्यात्मिक अनुभूति के एक विशेष, सीमित, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण, पक्ष के विषय में कुछ बताया और फिर एकदम से बंद हो गयी, मानो जो कुछ उसे कहने को था सब कह चुकी हो।"

जुगुप्सा भाव की अनुभूति के विषय में भी श्री अरविन्द ने लिखा है:

"मैं जब छोटा था तो किसी की क्रूरता और निर्दयता के व्यवहार की बात मुझसे पढ़ते तक नहीं बनती थी। ऐसे लोगों के प्रति मेरा मन तत्काल जुगुप्सा से भर उठता था। स्वयं मेरे लिए तो मामूली से मामूली जीव खटमल और मच्छर तक को मार पाना असम्भव था। कारण यह न था कि मैं अहिंसावादी था; कारण यह था कि मेरे स्वभाव में ही बड़ा गहरा दयाभाव

था और कहीं भी अदय व्यवहार दिखता कि मेरा रोम-रोम विरक्त हो उठता था। बाद को जब मुझे मानसिक स्तर पर इतनी आपत्ति नहीं रह गयी तब भी मैं अपने से किसी को क्षति नहीं होने दे पाता था : मेरा शरीर ही उसे अस्वीकार कर देता था।

"जिन दिनों मैं जेल में था तब शुरू के एक पूरे पखवारे मुझे तरह-तरह की मानसिक यंत्रणाएं दी गयी थीं। मुझे बरबस ऐसे दृश्यों को देखना और सहन करना होता था जिनका सम्बन्ध केवल पीड़ा और यत्रणाओं से हुआ करता। बाद को ऐसा अवश्य नहीं रहा।"

श्री अरविन्द के बालों में एक ऐसी असाधारण चमक थी कि उनके जेल में अनेक साथियों की तो धारणा ही बन गयी थी कि वे तेल लगाते हैं। एक दिन उनसे कुछ लोगों ने पूछा तो उन्हें विश्वास दिलाना पड़ा था कि बात ऐसी नहीं थी। वास्तव में वह चमक उनकी योग-साधना के कारण थी।

इसी काल में जीवन के प्रति उनका सारा दृष्टिकोण भी जड़ामूल बदल गया था। उन्होंने योग-साधना का मार्ग पकड़ा तो इस विचार से था कि अपने कार्योद्देश्यों को पूरा करने के लिए अभीष्ट आध्यात्मिक शक्ति और दैवी निर्देशन प्राप्त कर सकें। मगर अब स्थिति यह हो आयी थी कि उत्तरोत्तर अधिक विस्तार, व्यापकता और प्रधानता ग्रहण करते हुए आध्यात्मिकता और आध्यात्मिक बोधानुभूति ही अब उनका जीवन बन गये थे और वे मूल कार्योद्देश्य इसका एक अंश और परिणाम मात्र होकर रह गये थे। इतना ही नहीं, वह मूल उद्देश्य भी अब देश की सेवा और स्वतन्त्रता की प्राप्ति से कहीं आगे बढ़कर एक अत्यन्त महान और उच्च उद्देश्य का रूप ले चुका था जिसका सम्बन्ध समूचे मानव जगत् और संपूर्ण मानवता के भविष्य से था, और जिसका इससे पहले किसी-किसी को आभास मात्र ही मिला था।

वास्तव में श्री अरविन्द के लिए तो अब "सारा जीवन ही योग" बन गया था।

जो महदादेश उन्हें जेल में प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने अपने भाषणों में ही स्वर नहीं दिया बल्कि अपने दोनों साप्ताहिकों, अंग्रेजी के 'कर्मयोगी' और बांग्ला के 'धर्म', में भी अभिव्यक्त किया। देश में इन दोनों साप्ताहिकों का काफी प्रचार और प्रसार था।

'कर्मयोगी' में श्री अरविन्द ने लिखा था :

"जो कार्य-दायित्व हम अपने लिए अब निश्चित कर रहे हैं वह जड़ नहीं, नैतिक और आध्यात्मिक है। हमारा लक्ष्य अब शासन-तंत्र के रूप को बदल देना मात्र नहीं है, अपने राष्ट्र का निर्माण करना है। राजनीति हमारे इस कार्य-दायित्व का केवल अंग बनकर आती है, उससे अधिक कुछ नहीं। हमारी शक्ति और सामर्थ्य निरी राजनीति में अब नहीं लगेंगी, न केवल सामाजिक समस्याओं में, और न धर्मज्ञान या साहित्य या विज्ञान की दिशाओं में ही। हमें तो इन सभी को एक इकाई में समा लेना है। यह आवश्यक है। सचमुच यह इकाई ही तो 'धर्म' है, राष्ट्रीय धर्म, जिसे हम सार्वभौम भी मानते हैं।

"वास्तव में जीवन सम्बन्धी एक बहुत बड़ा नियम-विधान है, मानव जाति के विकास का एक महान सिद्धान्त है, आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभूतियों का एक विराट् पुंज है; जिसका एकमात्र संरक्षक, आदर्श उदाहरण, और उपदेष्टा चिरंतन काल से भारत ही रहता आया है। यही है 'सनातन धर्म,' हमारा शाश्वत धर्म। हमारे लिए नितान्त आवश्यक है कि अपने उसी धर्म की ओर लौटें और जीवन के मूल स्रोतों की, शक्ति की, अपने ही भीतर खोज करें। हमें चाहिए कि अपने अतीत को ठीक-ठीक जानें और भविष्य को लक्ष्य में रखकर उसे उबारें और प्रकाश में लायें। हमारा तो कर्तव्य ही यह है कि पहले स्वयं अपने को पूर्ण रूप से समझें और फिर हर चीज को भारत के शाश्वत जीवन और प्रकृति के अनुरूप नियम-विधान में ढालें।

"हमारी मान्यता यह है कि भारत का आज उत्थान ही इसलिए हो रहा है कि योग को संपूर्ण मानव जाति के जीवन का ध्येय बना सके। योग के द्वारा ही भारत स्वयं भी वह शक्ति अर्जित कर सकेगा जो स्वतन्त्रता प्राप्त

करने के लिए, एकता और महानता की उपलब्धि के लिए अपेक्षित है। इतना ही नहीं, योग के ही द्वारा उसमें अपनी स्वतन्त्रता और महानता को बनाये रखने की शक्ति भी आ सकेगी। वस्तुतः एक विराट् आध्यात्मिक क्रान्ति है जो हमें अनिवार्य रूप से होती दिखायी पड़ती है; सामने की यह सारी भौतिक क्रान्ति उसी की छाया और प्रतिच्छाया है।"

एक अन्य प्रसंग में भी उन्होंने कहा : "मानव जाति को जितनी भी समस्याएं सताती आयी हैं उन सबका कहीं समाधान है तो अपने ही अंदर के साम्राज्य पर विजय प्राप्त करने में !"

'कर्मयोगी' के अंकों में श्री अरविन्द की कई कविताएं भी प्रकाशित हुई थीं और निबंध तो कितने ही आये। उन कविताओं में दो थीं : 'बाजी प्रभु' और 'इपिफेनी'; और निबंधों में प्रमुख थे : 'अ सिस्टम ऑव नैशनल एजुकेशन', 'ब्रेन ऑव इंडिया', 'नैशनल वैल्यु ऑव आर्ट,' 'आइडियल ऑव कर्मयोगीन्' आदि। ईश, केन और कठोपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने 'कर्मयोगी' में दिया और कालिदास के 'ऋतुसंहार' और बंकिम के 'आनन्दमठ' का भी। इस प्रकार, 'कर्मयोगी' में प्रकाशित सामग्री का विषय-क्षेत्र बहुत व्यापक था, पर जो कुछ भी उसमें आता वह निरपवाद रूप से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य को लिये हुए होता था।

7. भागवत आदेश

श्री अरविन्द ने अंग्रेजों के स्वभाव को ध्यान से देखा-समझा था और उनकी सहज राजनीतिक प्रवृत्तियों में आया हुआ मोड़ भी उनसे छिपा न था। उनका विश्वास था कि ये लोग भले ही स्वतन्त्रता के लिए किये जाते भारत के किसी भी प्रयास का भरपूर सामना करें और अधिक-से-अधिक कुछ सुधार दें भी तो वे इतने कम और रुक-रुककर कि उनकी साम्राज्यशाही पर कहीं ठेस न आने पाये, मगर अंत तक पत्थर ही बने रहें ऐसे वह बिलकुल नहीं हैं। इन्हें यदि दिखा कि विरोध और विद्रोह बराबर बढ़ते-फैलते जा रहें हैं तो एक दिन यह सोचकर समझौते की बात जरूर करेंगे कि साम्राज्य को जितना भी बचाया जा सके बचा लें; या फिर एकदम ही अंतिम स्थिति आ लगी तो स्वतन्त्रता उनसे बलात् ली जाये इससे अच्छा वे स्वयं दे देना चाहेंगे। और जिस रूप में बाद को घटनाएं घटीं उनसे श्री अरविन्द का यह अनुमान सही भी प्रमाणित हुआ।

1905 में लॉर्ड कर्जन के बाद भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड मिण्टो हुए थे। यह अनुदारवादी थे। उधर भारत मंत्री जॉह्न मॉर्ले उदारवादी थे। मॉर्ले ने उन दिनों जो एक पत्र लॉर्ड मिण्टो को लिखा था उससे अंग्रेजों के स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है। पत्र में लिखा गया था: "लेकिन इस समय जो हालत है उसे भारत सरकार अनदेखा नहीं कर सकती। चारों ओर राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन ही परिवर्तन भरा है और अनेक-अनेक प्रश्न हमारे सामने खड़े हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिनका समाधान सोचने का प्रयत्न हमें करना ही होगा। मेरे विचार से तो सबसे अधिक महत्व की बात यह होगी कि पहल हमारी ओर से की जाये। हमें भारत सरकार को ऐसी स्थिति में नहीं डाल देना चाहिये जिससे लगे

कि हम इस देश के आन्दोलन से, या अपने ही यहां के दबावों से, हारकर कुछ करने को विवश हुए। हमारे लिए तो उचित यही होगा कि जो सब परिस्थितियां सामने हैं उन्हें हम ही पहले स्वीकार कर लें और, व्यक्तिगत अनुभव तथा भारत के नित के जीवन के साथ सीधे संपर्क में होने के कारण, जो मंतव्य हमारे बने हैं उन्हें सम्राट् की सरकार के आगे निवेदन कर दें।"

स्वयं श्री अरविन्द के प्रति भारत सरकार का मनोभाव उन दिनों कैसा-क्या था यह इन दो पत्रों से प्रतिबिंबित होता है। बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने लॉर्ड मिण्टो को लिखा था : "राजद्रोहात्मक सिद्धांतों के फैलने के लिए बंगाल के, या शायद समूचे भारत के, किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तरदायी मैं इन्हें, श्री अरविन्द को, मानता हूं।" ऐसा ही कुछ विचार लॉर्ड मिण्टो का भी रहा होगा क्योंकि उन्होंने भारत सचिव जॉह्न मॉर्ले को लिखा था : "मैं तो वही बात फिर आग्रहपूर्वक कह सकता हूं कि सबसे अधिक खतरनाक यही एक व्यक्ति है जिसका हमें ध्यान रखना है।"

बंगाल प्रांतीय कॉन्फरेन्स का जब बरीसाल में अधिवेशन हुआ तो श्री अरविन्द उसमें सम्मिलित हुए और वहां बोले भी। इस बीच भारत सरकार उनसे छुटकारा पाने का निश्चय कर चुकी थी और यह निर्णय ले लिया गया था कि उन्हें निर्वासित कर दिया जाये। पर सरकार की यह सारी योजना स्वामी विवेकानन्द की आइरिश शिष्या सिस्टर निवेदिता को मालूम हो गयी। वह स्वयं क्रान्तिकारियों में से थीं और श्री अरविन्द के साथ उन्होंने निरंतर संपर्क बनाये रखा था। पहले-पहल 1902 में सिस्टर निवेदिता उनसे बड़ौदा में मिली थीं। इससे पूर्व भी उनके बारे में काफी-कुछ इन्होंने सुना जाना था, पर वह केवल काली के उपासक या एक क्रान्तिकारी के रूप में। आगे चलकर जब 1903 में श्री अरविन्द ने पांच सदस्यों की एक समिति बंगाल में संघटित की तो सिस्टर निवेदिता भी उन पांच में से एक थीं।

इस समय इन्होंने श्री अरविन्द से आग्रह किया कि वे ब्रिटिश भारत से कहीं बाहर चले जायें और वहीं रहकर अपना कार्य करें। पर श्री अरविन्द ने एक और ही उपाय निकाला। उन्होंने 25 दिसम्बर 1909 के 'कर्मयोगी' में देशवासियों के नाम एक खुला पत्र प्रकाशित किया और उसमें अपने निर्वासित किये जाने की संभावना बताते हुए देश-भर के आगे वह सब भी उजागर कर दिया जिसे उन्होंने 'अपनी अंतिम इच्छा और वसीयत' नाम दिया। श्री अरविन्द को विश्वास था कि इससे उनके निर्वासन की सारी योजना बैठ जायेगी। और उनका विश्वास सही उतरा।

मगर सरकार भी अपनी योजनाओं में यों आसानी से हार खाने वाली न थी। श्री अरविन्द को सूचना मिली कि सरकार का इरादा अब किसी भी समय 'कर्मयोगी' के दफ्तर की तलाशी लेने और उन्हें गिरफ्तार करने का है। वे उस समय दफ्तर में ही कुछ सहकारियों के साथ बैठे हुए थे। स्वभावत: आपस में सोच-विचार किया गया कि क्या करना चाहिए। रामचंद्र मजूमदार लोहा लेने के पक्ष में थे। श्री अरविन्द विचारमग्न बैठे थे। हठात उन्हें एक आदेश मिला। उन्होंने स्वयं लिखा है: "मुझे ऊपर से आती हुई एक आवाज सुनायी दी: 'नहीं, चंद्रनगर जाओ।' इस प्रकार की आवाजें मुझे अलीपुर जेल से आने के बाद से ही सुनायी देने लगी थीं और मैं बिना चूं किये जैसा कहा जाता वैसा किया करता था।"

श्री अरविन्द ने फिर एक क्षण भी नष्ट नहीं होने दिया। दस मिनिट में वे गंगा के घाट पर थे और वहां से फ्रेंच भारत के चंद्रनगर को जाती नौका पर। 1910 की फरवरी में वे गुप्त रूप से वहां रहे। किसी को पता न चलने पाये इसलिए रहने का स्थान जब-तब बदल देते थे। चंद्रनगर में प्राय: सारी व्यवस्था वहां के एक प्रमुख नागरिक मोतीलाल रॉय के द्वारा होती थी। यहीं से श्री अरविन्द ने एक संदेश सिस्टर निवेदिता को भेजा था कि उनके पीछे 'कर्मयोगी' का संपादन दायित्व वह संभाले रहें।

इतने-इतने तनाव और संघर्षों के रहते भी श्री अरविन्द की योग-साधना पूरी तीव्रता के साथ चल रही थी। ध्यानावस्था में उन्हें प्राय: तीन या चार

देवियों के दर्शन हुआ करते थे। बाद को पांडिचेरी में वेदों का अध्ययन करते हुए उन्हें ज्ञात हुआ कि वे चारों वैदिक देवियां थीं : इला, भारती, मही, और सरस्वती।

चंद्रनगर में श्री अरविन्द बराबर इस सोच में थे कि अब आगे क्या करें। कई मित्र उन्हें फ्रांस चले जाने का सुझाव दे रहे थे। एक दिन अचानक फिर भागवत आदेश हुआ कि उन्हें पांडिचेरी जाना है।

31 मार्च 1910 को श्री अरविन्द कलकत्ता लौटे। जिस नौका में वे आये उसे चलानेवाले मांझी-मल्लाह न थे, उत्तरपाड़ा के युवक क्रान्तिकारी लोग थे। घाट पर 'डूप्ले' नामक जहाज तैयार खड़ा था और ज्योतीन्द्रनाथ मित्र के छद्म नाम से श्री अरविन्द उस पर पहुंच गये और 1 अप्रैल 1910 के भोर में जहाज पांडिचेरी की ओर रवाना हो गया।

8. पांडिचेरी में

पांडिचेरी भारत के दक्षिण, पश्चिमी समुद्र-तट पर बसा हुआ है और इस स्थान का एक प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास है। प्रचलित परंपरा के अनुसार ऋषि अगस्त्य उत्तर से आकर यहीं रुके थे और बस गये थे। उस काल में इस स्थान को वेदपुरी कहा जाता था। फ्रांसीसी पुरातत्त्ववेत्ता जूवा-देब्रुइल ने इस मान्यता का समर्थन भी किया है।

श्री अरविन्द यहां 4 अप्रैल 1980 को तीसरे पहर चार बजे पहुंचे थे। गुह्य विद्याओं में 4 के अंक का एक विशेष महत्व माना जाता है। यह अंक स्थल ऋत भौतिक में अतिमानस के, उद्घाटन का सूचक होता है।

पांडिचेरी पहुंचने के बाद से श्री अरविन्द की योग-साधना उन्हें अधिकाधिक लीन रखने लगी। उन्होंने सार्वजनिक रूप से होनेवाले राजनीतिक कार्यों में भाग लेना छोड़ दिया और एकाधिक बार अनुरोध किये जाने पर भी इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशनों की अध्यक्षता तक स्वीकार नहीं की। इतना ही नहीं, जिन क्रान्तिकारी तत्वों को स्वयं उन्होंने जुटाकर एक शक्ति के रूप में संघटित किया था उनके साथ भी थोड़े दिन तो एक व्यक्तिगत संपर्क रखा, पर बाद को यह भी बंद कर दिया।

भारत के भविष्य के बारे में ज्यों-ज्यों श्री अरविन्द की अंतर्दृष्टि खुलती गयी, उन्हें स्पष्ट दिखता गया कि देश का स्वतन्त्र होना अंततः निश्चित है। इसके अतिरिक्त यह भी उन्हें अब प्रत्यक्ष हो आया कि जितना आध्यात्मिक कार्य उनके करने के लिए सामने था उसकी गुरुता और विशालता वास्तव में कितनी अधिक थी। और उनसे छिपा न रहा कि उनकी तमाम शक्ति तो इसी एक कार्य को पूरा करने में लग जायेगी।

वे जब अलीपुर जेल में थे तभी विवेकानन्द की आत्मा ने कुछ संकेत उस विषय का किया था जिसे श्री अरविन्द ने आगे चलकर 'अतिमन' का नाम दिया। उसी संकेत पर अग्रसर होते हुए श्री अरविन्द ने देखा कि किस प्रकार एक वह ऋत चित ही कण-कण में व्याप्त हुआ कार्य कर रहा है। उन्होंने समझ लिया कि मानवमात्र के कल्याण के लिए आवश्यक यही है कि उस ऋत चित का अवतरण हो और वह धरती का रूपान्तरण करे। वास्तव में जिस परम दुखदायी अशान्ति और अव्यवस्था के गर्त में मानव जाति पड़ी हुई है उससे उसे उबारने का यही एकमात्र मार्ग था। और जैसा बाद में बारीन को समझाते हुए उन्होंने कहा : "हम यदि ऊपर नहीं उठते, अर्थात अतिमानसी चेतना के स्तर तक नहीं पहुंचते, तो इस विश्व के चरम रहस्य को जान पाना कदाचित ही संभव हो। और फिर तो विश्व की इस विराट समस्या का समाधान भी नहीं ही होगा।"

श्री अरविन्द का मत है कि प्रकृति के विधान में विकास का एक आरोहण क्रम हुआ करता है जो पत्थर से वनस्पति, वनस्पति से पशु, और पशु से मनुष्य की श्रेणी तक चलता आता है। और क्योंकि आरोहण-क्रम के शिखर पर मनुष्य इस समय मौजूद है, वह समझने लगा है कि वही इस क्रम का अंतिम चरण है और उससे आगे श्रेष्ठ कुछ और भी धरती पर हो ही नहीं सकता। यहीं पर उसकी भूल है। अपनी स्थूल-दैहिक प्रकृति में वह अब भी निरा पशु है : ऐसा पशु जो सोच-बोल तो सकता है पर अपने देहगत अभ्यास और सहज प्रवृत्तियों में है फिर भी पशु ही। निश्चय ही इस अपूर्णता को लेकर प्रकृति संतोष नहीं मान सकती। उसका सदा ही प्रयत्न होता है कि एक ऐसी प्राणिसत्ता का विकास करे जिसका मनुष्य के आगे वही स्थान हो जो पशु के आगे स्वयं उसका है : अर्थात वह सत्ता ऐसी हो जिसकी चेतना मनोमय प्राणी से बहुत ऊंची उठी हुई हो और जो मानवीय अज्ञान-दासता से बिलकुल मुक्त हो।

वास्तव में इस शाश्वत सत्य को प्रकाशित करने के ही लिए श्री अरविन्द धरती पर आये थे। उन्होंने यही सिखाया कि मनुष्य एक ऐसी चित्तधर्मी

परिवर्ती सत्ता है जिसके लिए एक नयी उच्चतर चेतना, ऋत चित की अवस्था, लाभ करने की संभावना खुली हुई है और जिसमें एक सर्वथा सामंजस्यपूर्ण, शुभ और सुंदर, सुखी और सचेतन जीवन जीने की पूरी क्षमता है। श्री अरविन्द ने अपना सारा समय अब इसी प्रयत्न में लगा दिया कि उस उच्चतर चेतना को, जिसे उन्होंने अतिमानसी चेतना कहा, स्वयं अपने में अधिष्ठित करें और अपने अनुवर्तियों को भी उसकी अनुभूति कराने में सहायक हों।

श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य है एक ऐसा आंतरिक विकास कि जिससे फिर प्रत्येक साधक को, यथासमय, सब में समान रूप से रमी हुई एक ही आत्मसत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे और वह चित्तभूमि से उठकर उस उच्चतर चेतना को विकसित कर सके जो परम आध्यात्मिक और ऋत चित अर्थात अतिमानसी चेतना की अवस्था है। यही वास्तव में वह अवस्था है जो मानव प्रकृति का रूपान्तरण और दिव्यीकरण कर सकेगी।

इसका अर्थ, जैसा बहुत से लोगों ने समझा, यह न था कि श्री अरविन्द अब आध्यात्मिक अनुभूतियों की ऐसी उच्च अवस्था में लीन रहने लगे थे कि उन्हें न भारत के भाग्य और नियति से सरोकार रह गया था न मानव प्राणी के इस संसार में ही कोई रस। यह अर्थ तो उसका हो ही नहीं सकता था। क्योंकि उनके योग का मूल सिद्धांत ही यह था कि मात्र भागवत अनुभूति और पूर्ण आध्यात्मिक चेतना की संप्राप्ति हमारा अभीष्ट न हो, बल्कि यह भी आवश्यक माना जाये कि समूचा प्राणिजीवन और विश्वकार्य उस चेतना की परिधि का अंग हो और आत्मा ही समस्त जीवन और प्राण का आधार बनकर इन्हें अर्थवत्ता दे। श्री अरविन्द ने एकांत में रहते हुए भी देश के और विश्व के समूचे घटनाचक्र पर पूरी दृष्टि रखी थी और, जब-जब आवश्यक समझा, उन्होंने उसमें हस्तक्षेप भी किया था। इतना अवश्य कि उनका हस्तक्षेप केवल आध्यात्मिक स्तर पर हुआ करता था : मौन आध्यात्मिक क्रिया के रूप में।

श्री अरविन्द पांडिचेरी पहुंचने के दिन से अक्तूबर 1910 तक कॉम्टी

चेट्टी स्ट्रीट में शंकर चेट्टी के यहां अतिथि होकर रहे। स्वामी विवेकानन्द भी जब पांडिचेरी आये थे तो इसी घर में रहे थे। बाद को श्री अरविन्द रू सूफ्रें में सुन्दर चेट्टी के मकान में रहने लगे थे।

वास्तव में श्री अरविन्द के इधर आने की भविष्यवाणी बरसों पहले एक दक्षिणी योगी नगाई जपता द्वारा की जा चुकी थी। नगाई जपता ने शरीर-त्याग का समय निकट आने पर अपने सब शिष्यों को बुलाया था। के. पी. आर. आयंगर ने, जो तब कडाइलम के जमींदार थे, उससे पूछा था : "मुझे अब मार्गदर्शन किससे प्राप्त होगा ?" योगी गुरू ने उत्तर दिया था : "उस महायोगी से जो उत्तर की दिशा से आयेगा।" आगे फिर उसने बताया था कि यह महायोगी दक्षिण में आश्रय खोजते हुए आयेंगे और आने से पूर्व तीन बातों की घोषणा करेंगे।

श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी मृणालिनी को लिखे एक पत्र में तीन बातों का, अपने 'तीन पागलपनों' का, उल्लेख किया ही था। के. पी. आर. आयंगर ने समझ लिया कि नगाई जपता ने जिस महायोगी के लिए कहा था वह यही श्री अरविन्द होंगे। और वह इन्हें खोजते हुए पांडिचेरी मिलने के लिए आये।

के. पी. आर. आयंगर के साथ रामस्वामी आयंगर भी आये जो तमिल साहित्य जगत में 'वा. रा.' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हें श्री अरविन्द की अन्तर्दृष्टि पहले भी देख चुकी थी। पर उस समय इनका मुखमंडल सुचिक्कन न था, श्मश्रु-मंडित था : ठीक जैसा एक वर्ष साधक के रूप में पांडिचेरी रहने के बाद हुआ।

के. पी. आर. आयंगर ने श्री अरविन्द की कुछ आर्थिक सहायता भी की और उनकी पुस्तक 'योग साधना' को प्रकाशित कराया। यह पुस्तक श्री अरविन्द के 'स्वचलित लेखन' के प्रयोगों का परिणाम थी और इसके लिखे जाने के दिनों में एक ऐसी छायामूर्ति भी उन्हें दिखायी दी थी जिसकी आकृति राजा राममोहन रॉय से मिलती हुई थी। स्वचलित लेखन के कुछ बड़े असाधारण प्रयोग बारीन ने बड़ौदा में किये थे। उसी समय श्री अरविन्द

ने तय किया था कि वे स्वयं इस प्रकार के लेखन का अभ्यास करेंगे और यह पता लगायेंगे कि उसके मूल में सचमुच है क्या। पर जो परिणाम सामने आये उनसे संतोष नहीं मिला और पांडिचेरी में कुछेक प्रयत्न और करने के बाद इन प्रयोगों को बंद कर दिया गया।

श्री अरविन्द पांडिचेरी आये उसके पहले से ही भारत के कई क्रान्तिकारियों और राजनीतिक शरणार्थियों को इस नगर ने आश्रय दे रखा था। उदाहरण के लिए सुब्रह्मण्यम् भारती, श्रीनिवासाचारी, नायस्वामी अय्यर, वी. रामस्वामी आयंगर, वी. वी. अय्यर आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से कुछ लोग तो मिलकर यहां से 'भारत' नाम का एक तमिल साप्ताहिक भी निकाल रहे थे जो भारत की स्वतन्त्रता के लिए समर्पित था।

भारत की अंग्रेजी सरकार श्री अरविन्द की ओर से अब भी आशंकित बनी हुई थी। गुप्तचर विभाग के कई लोग इसी काम पर नियुक्त थे कि उन पर पूरी नजर रखें और संभव हो तो अपहरण करके उन्हें भारत ले आयें। पांडिचेरी के एक धनी मांझी नन्दगोपाल चेट्टी ने शायद इस दुष्ट योजना की पूर्ति में हाथ बंटाना भी स्वीकार किया था। मगर नन्दगोपाल सफल न हो सका, उल्टे जिस दिन श्री अरविन्द का वह अपहरण करने को था उसी दिन स्वयं उसकी गिरफ्तारी का वारण्ट निकला और अपनी खैर मनाते हुए उसे ही मद्रास भागना पड़ा।

इस प्रकार इस प्रयत्न में विफल हो जाने पर ब्रिटिश गुप्तचरों ने श्री अरविन्द को फंसाने के लिए अब एक नयी चाल पकड़ी। उन्होंने एक टीन में विप्लवी साहित्य भरा, जिसमें से कुछ बाग्ला भाषा में भी था, और उसे श्री अरविन्द के एक मित्र वी. वी. एस. अय्यर के घर के पासवाले कुएं में डाल दिया। साथ ही उन लोगों ने मायामेन नामक एक व्यक्ति के द्वारा पुलिस को यह सूचना भिजवा दी कि अय्यर और उनके साथी लोग क्रान्तिकारी षड्यंत्रों में लगे हुए हैं जिसका प्रमाण उनकी तलाशी लिये जाने पर मिल सकता है।

संयोग से अय्यर के एक नौकर ने कुएं में पड़े उस टीन को देख लिया

और श्री अरविन्द के सुझाव पर अय्यर ने जाकर थाने में उसकी रिपोर्ट कर दी। फ्रेंच पुलिस आयी और उसे टीन में वह सारा साहित्य मिला। श्री अरविन्द के घर की तलाशी हुई। जांच करने के लिए आये हुए मैजिस्ट्रेट, मॅस्यॅ नन्दो, यह देखकर बड़े विस्मय में पड़े कि श्री अरविन्द तो यूरोप की कई भाषाएं और ग्रीक तक खूब जानते हैं। उनके मन में इससे इतना आदर-भाव उपजा कि वह श्री अरविन्द को अपने कक्ष तक बुला ले गये।

मायासेन, जिसने पुलिस को सूचना दी थी, अपनी सारी योजना को उल्टी पड़ी देखकर और यह समझकर कि अब शायद झूठा आरोप लगाने के अपराध में वही धर-पकड़ा जाये, सीधे ब्रिटिश इंडिया क[illegible] गया।

मगर ब्रिटिश गुप्तचर विभाग श्री अरविन्द के पीछे बराबर पड़ा रहा। उन दिनों खुलना से एक कोई नगेन नाग इस विचार से पांडिचेरी आये हुए थे कि उन्हें क्षय रोग से शायद श्री अरविन्द का आशीर्वाद ही मुक्त करा दे। गुप्तचरों ने इसमें अपने लिए एक सुयोग देखा। उन्होंने वीरेन रॉय नाम के एक अपने आदमी को रसोइया बनाकर नगेन के यहां रखवा दिया और इस प्रकार श्री अरविन्द के यहां भीतर तक पैठ जाने का रास्ता निकाल लिया। कुछ महीनों के बाद इस 'रसोइये' ने कलकत्ते लौट जाना चाहा और इसलिए विभाग से कोई एवजी भेजने के लिए कहा। व्यवस्था यह सोची गयी थी कि नया 'रसोइया' पास के होटल में पहुंचेगा और बीरेन पहचान के लिए सिर के बाल मुंड़ाये हुए उसे वहीं मिलेगा।

एवजी के आने के दिन आये तो बीरेन ने सिर के बाल साफ कराये। किसी संयोगवश मणि अर्थात सुरेश चक्रवर्ती ने भी, जो श्री अरविन्द के यहां ही रहते थे, उस दिन बाल साफ कराना सोचा। बीरेन ने सुना तो एक-बारगी ही घबरा गया। उसने भरसक उन्हें रोकने की कोशिश की, पर उनका आग्रह बना ही रहा। बीरेन को अब मन ही मन बड़ा डर हुआ : उसे लगा कि मणि शायद जान गये हैं कि वास्तव में वह कौन है। और अंत में उसने सब स्वीकार कर लिया और श्री अरविन्द के पांवों में बैठकर

फूट-फूटकर रोने लगा। जो पैसा ब्रिटिश सरकार ने भेजा था वह भी उसने हाजिर कर दिया।

1912 में ब्रिटिश सरकार का फ्रांस की सरकार पर दबाव बढ़ा कि भारत के जितने भी राजनीतिक शरणार्थी फ्रेंच भारत में टिके हुए हैं वे सभी भारत सरकार को सौंप दिये जायें। ये शरणार्थी लोग अपनी सुरक्षा के लिए बिलकुल फ्रेंच सरकार पर ही निर्भर थे। इन्होंने सुना तो स्वभावत: घबराये। सुब्रह्मण्यम् भारती तो बहुत डर गये : वे यों भी बात-बात पर घबरा उठते थे। उन्होंने श्री अरविन्द से आकर पूछा कि फ्रेंच सरकार ने सहारा खींच लिया तो आप क्या करेंगे ? श्री अरविन्द ने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया : "भारती जी, मैं यहां से एक इंच भी हटनेवाला नहीं हूं। मैं जानता हूं मेरा कुछ भी बिगड़ने को नहीं है। अपने लिए आप, जैसा ठीक समझें, करें।" इसके बाद सुब्रह्मण्यम् भारती फिर वहीं बने रहे।

यह समय बड़ी आर्थिक कठिनाई का भी था। एक दिन तो श्री अरविन्द ने चन्द्रनगर वाले मोतीलाल रॉय को लिखा : "स्थिति इस समय यह है कि कुल आठेक आने हाथ में बचे होंगे। इसमें तो संदेह नहीं कि भगवान उपाय करेंगे, पर उनकी जैसे बान ही पड़ गयी है कि अंतिम क्षण तक प्रतीक्षा कराते रहें।"

के. अमृत, जो आगे चलकर आश्रम के मैनेजर हुए, स्कूल की छुट्टियों में पांडिचेरी ही रहा करते थे। वह भी इन दिनों अर्थकष्ट में थे। श्री अरविन्द ने अपनी तमाम कठिनाइयां रहते भी उनकी भरसक सहायता की। इसी प्रकार, अपनी पुस्तक 'वॉर ऐण्ड सेल्फ डिटर्मिनेशन' के स्वत्वाधिकार भी उन्होंने अपनी बहन सरोजिनी देवी के नाम कर दिये क्योंकि उनकी स्थिति बिगड़ आयी थी।

श्री अरविन्द ने एक बार अलीपुर जेल में दस दिन का उपवास किया था। यहां अब दूसरा तेईस दिन का किया। उपवास के इन तेईसों दिन उनके सारे काम : व्यायाम, ध्यान-चिंतन, लेखन आदि सब पहले जैसे नियमित चलते रहे। आश्चर्य यह कि कमजोरी जरा नहीं आयी। उनका

वजन कुछ जरूर घट गया था, पर इसे फिर पूरा कर लेने का कोई संकेत उन्हें भीतर से नहीं मिला। उपवास भी जब उन्होंने भंग किया तो धीरे-धीरे करके नहीं : वे तो उसी समय से अपना सामान्य और पूरा आहार लेने लगे थे।

इस काल में श्री अरविन्द के योगाभ्यास की स्थिति क्या थी ? वे आध्यात्मिक को भौतिक के स्तर पर उतार ले आने की शक्ति बहुत कुछ विकसित कर चुके थे। 12 जुलाई 1911 के एक पत्र में उन्होंने लिखा था : "मैं उन शक्तियों को विकसित करने में लगा हुआ हूं जो आध्यात्मिक को भौतिक के स्तर पर उतार कर लाने के लिए अपेक्षित हैं। इस स्थिति में तो मैं आ गया हूं कि अपने को दूसरों में प्रविष्ट करके उनमें परिवर्तन ला दूं : उनका अंतर अंधकार के स्थान पर प्रकाश से खिल उठे, उनके हृदय और मन बिलकुल ही नये हो जायें। यह परिवर्तन उन व्यक्तियों में तो मैं तेजी से और पूरी तरह ला सकता हूं जो मेरे निकट यहीं रहते हैं, पर सफलता मुझे वहां भी मिली है जो मुझसे सैकड़ों मील दूर कहीं बैठे हैं।"

"यह शक्ति भी मुझे प्राप्त हो चुकी है कि दूसरों के स्वभाव को, उनके हृदय और मन के भावों तक को, ठीक से जान लूं। पर यह शक्ति अभी पूरी नहीं आयी। सदा और सभी पर इसका प्रयोग नहीं कर पाता। अपनी इच्छा मात्र से किसी क्रिया को दिशा दे सकूं, यह शक्ति भी विकसित हो रही है, पर उतनी दृढ़ यह नहीं हो सकी है। दूसरे लोकों से सम्पर्क की स्थिति अभी कुछ झमेले में है; इतना अवश्य कि कई महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मेरा सम्पर्क बन गया है।

"पर इन सब बातों पर और अधिक मैं अपने मार्ग की अंतिम बाधाएं भी दूर हो जाने पर लिखूंगा।"

वास्तव में श्री अरविन्द की साधना और उनका कार्य अभी उस एक व्यक्ति के आगमन की प्रतीक्षा में अटके हुए थे जिसे उनका यथार्थ सहयोगी होना था : अर्थात श्री मां। और श्री मां फ्रांस से 29 मार्च 1914 को आयीं।

9. श्री मां

उनतीस मार्च 1914 को दोपहर बाद साढ़े-तीन बजे एक फ्रांसीसी भद्र-महिला, जिनका नाम मीरा रिशार था और जो अब देश-देश में श्री अरविन्द आश्रम की श्री मां के रूप में विख्यात हैं, आकर प्रथम बार श्री अरविन्द से मिलीं।

पांडिचेरी आने से पहले उन्होंने 1910 में 'स्टार ऑव डैविड' की एक रेखानुकृति उकेरकर भेजी थी। यह स्टार देखने में कुछ-कुछ वैसा ही होता है जैसा श्री अरविन्द का अपना प्रतीक है। श्री अरविन्द ने उसका सम्पूर्ण प्रतीकात्मक अर्थ स्पष्ट कर दिया तो उन्हें प्रतीति हो गयी कि यही वह महापुरुष हैं जिनके साथ मिलकर उन्हें अपना कार्य करना है। 29 मार्च 1914 को जब प्रथम भेंट हुई तो पहली दृष्टि में ही उन्होंने पहचान लिया कि जो एक महासत्ता उनकी साधना को निरन्तर दिशा दिखाती आयी है और जिसे वे अपना कृष्ण कहकर पुकारती रही हैं वह यही है।

स्वयं श्री मां ने इस प्रथम भेंट के विषय में लिखा है: "मैं उस समय गम्भीर ध्यान की अवस्था में थी, मेरे अतिमन में वह सब दृष्टिगत था जो एक दिन अवश्य साकार होना था पर जो अभी किसी कारण अभिव्यक्त नहीं हो रहा था। मैंने जो देखा उसे श्री अरविन्द को बताया और पूछा कि वह सब साकार होगा क्या? उन्होंने केवल 'हां' कहा और मुझे उसी क्षण दिखा कि अतिमानस ने सचमुच पृथ्वीलोक का स्पर्श किया है और उसे अनुभव भी किया जाने लगा है। यह प्रथम अवसर था कि मैंने सत्य को वास्तविक बना देने की शक्ति का साक्षात्कार किया।"

अगले दिन 30 मार्च को श्री मां ने अपनी डायरी में लिखा: "इस बात का तो अब महत्व ही नहीं रह जाता कि शत-शत मानवप्राणी गहनतम

अंधकार में डूबे हुए हैं। क्योंकि धरती पर वे हैं जिन्हें हमने कल देखा। उनका होना ही यह प्रमाणित करने के लिए काफी है कि एक दिन आयेगा ही जब अंधकार का प्रकाश में रूपान्तर हो जायेगा, जब प्रभु का राज्य धरती पर सचमुच ही प्रतिष्ठित हो जायेगा।"

श्री मां का जन्म 21 फरवरी 1878 को पैरिस में हुआ था। वे 36 वर्ष की थीं जब पहले पहल श्री अरविन्द से मिलीं। अपने एक जन्मदिन के अवसर पर उन्होंने कहा है : "मैं जन्म से भले ही फ्रांस की हूं, पर अंतरात्मा और मन की अभिरुचियों से मैं भारत की ही हूं।"

श्री मां छोटी उम्र से ही मानव की कोटि से बहुत ऊपर की थीं। 'मदर इण्डिया' के फरवरी 1958 के अंक में प्रकाशित के. डी. सेठना के एक लेख से श्री मां के पांडिचेरी आने से पूर्व के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उस लेख के कुछ अंश नीचे दिये हैं :

"वे जब छोटी-सी बालिका मात्र थी तो उस काल में भी उन्हें बराबर भान हुआ करता था कि उनके पीछे एक कोई अतिमानवी शक्ति है जो शरीर में जब-तब प्रवेश कर जाती है और फिर अंदर ही अंदर बड़े अलौकिक कार्य किया करती है। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि वह शक्ति उनकी अपनी गुह्य सत्ता की ही शक्ति है। किस प्रकार वह शक्ति कार्य करती थी इसके कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं :

"वे सातेक वर्ष की रही होंगी। तब एक कोई 13 वर्ष का बड़ा उद्दण्ड-सा लड़का था जो हमेशा लड़कियों को मुंह चिढ़ाता हुआ कहा करता था कि वे लोग तो निरी निकम्मी होती हैं। एक दिन इन्होंने उससे कहा : 'तुम मानोगे या नहीं ?' पर वह उसी तरह करता रहा। सहसा इन्होंने उसे पकड़कर उठा लिया और जोर से धरती पर दे पटका। और ये तब सात वर्ष की छोटी-सी बालिका मात्र थीं ! बाद को इन्होंने पहचाना कि जिस शक्ति ने उस समय इनके भीतर प्रवेश किया था वह स्वयं महाकाली थीं।

"और एक उदाहरण है। एक बार यह खेलने के लिए फॉन्तेनब्लो के पास

वाले घने जंगल में पहुंच गयीं। वहां एक खड़ी पहाड़ी पर चढ़ते हुए इनका पांव फिसला और ये गिरीं और नीचे को लुढ़कने लगीं। उस समूचे रास्ते पर काले-नुकीले पत्थर बिखरे-फैले पड़े थे। पर इन्हें तो लुढ़कते जाते हुए बराबर ऐसा लगता रहा मानों कोई गोद में उठाये लिये जा रहा हो! नीचे पहुंचकर भी ये सहज रूप में अपने पांवों पर आप खड़ी हो गयीं। संग-साथ के बच्चों ने देखा तो अचम्भे में रह गये।

"सोलहवें वर्ष में आयीं तो ये चित्रकला सीखने के लिए एक स्टूडियो में जाने लगीं। पैरिस का वह एक प्रमुख स्टूडियो था। वहां जितने लोग और आते थे वे प्रायः बैठकर बातें किया करते; कभी-कभी तो आपस में झगड़ तक पड़ते थे। ये इन बातों से दूर रहतीं और गम्भीर बनी हुई अपने काम से ही काम रखती थीं। उन लोगों ने इनका नाम ही 'स्फिंक्स', रहस्यमूर्ति, रख दिया था। पर जब कभी वे लोग किसी परेशानी में पड़ जाते या कोई विवाद ही आपस में उठ खड़ा होता, तब निबटारे के लिए सब इन्हीं के पास दौड़ते थे। और ये तो उनके भीतर के भावों को देख लेतीं और उन्हें ही लक्ष्य में रखकर कुछ कहतीं, इसलिए कभी-कभी वे लोग बड़े संकोच और लज्जा की स्थिति में भी पड़ जाते थे।

"इनका निर्णय भी बड़ा निर्भीक हुआ करता था, भले ही उसमें किसी अधिकारी की ही बात क्यों न आती हो। एक बार एक लड़की, जो स्टूडियो की मॉनीटर बनायी जा चुकी थी, वहाँ की महिला-प्रधान की कृपादृष्टि खो बैठी। यह महिला उसे अब वहां से हटा देने पर तुल गयी थी। लड़की सहायता के लिए इनके पास आयी। इन्हें उसके प्रति बड़ी सहानुभूति हुई, क्योंकि इनसे छिपा न था कि वह कितनी गरीब है और अब यदि स्टूडियो से निकाल दी गयी तो उसके चित्रकला-जीवन का ही अंत हो जायेगा।

"स्टूडियो की महिला-प्रधान का सामना अब उस लड़की से नहीं, उसकी इस सहायिका से था जो नन्हीं भले ही थी पर अपने संकल्प की पूरी और पक्की थी। इन्होंने पहले उसे समझाने-बुझाने की भरसक कोशिश की, पर जब इस ओर कान तक नहीं दिया गया तब इन्होंने दूसरा रास्ता पकड़ा,

और एक हल्के-से क्रोध की तमक के साथ उस वरिष्ठ महिला-प्रधान का हाथ धरकर इन्होंने इतने जोर से दबाया कि मानों हड्डियां तक चूर-चूर कर देंगी। फिर तो पलक-झपकते फैसला हो गया कि वह लड़की अपनी जगह मॉनीटर बनी रहेगी। इस बार भी सारी लीला महाकाली की ही थी।

"घर में भी यह 'स्टूडियो की स्फिंक्स' इसी तरह गम्भीर और रहस्यमूर्ति बनी रहती थीं। हंसी तो दूर, एक मुस्कान भी इनके होठों पर कभी ही आने पाती। एक बार जब यह बीसेक वर्ष की रही होंगी, तब मुंह को हरदम भारी किये रहने पर इन्हें मां से बातें सुननी भी पड़ी थीं। इनका चार शब्द का उत्तर था : "क्या करूं, सारे ही संसार का तो दुख-दर्द उठाने को रहता है।" मां को लगा था कि लड़की पागल हो गयी है। एक अन्य अवसर पर इन्हें इस बात के लिये डांट खानी पड़ी थी कि जैसा कहा जाता है वैसा यह क्यों नहीं करतीं। इन्होंने उस पर साफ कह दिया था कि धरती की कोई भी शक्ति उनसे अपनी आज्ञा का पालन नहीं करा सकती।

"ये जब देह की दृष्टि से सोयी होती थीं तब अनेक-अनेक गुरू और ज्ञानी आकर इन्हें गुह्य ज्ञान-बोध दिया करते थे। इनमें से कुछ को तो बाद में इन्होंने स्थूल रूप में भी देखा। आगे चलकर तो जैसे-जैसे इनका आंतरिक और बाह्य विकास बढ़ता गया, इन आत्मसत्ताओं में से एक के साथ इनके चैतिक और आत्मिक सम्बन्ध में दिनों-दिन स्पष्टता भी आयी और एक निरन्तरता भी। उस समय तक भारतीय धर्म और दर्शन से ये बहुत ही कम परिचित हो पायी थीं, तो भी उस विशेष आत्मसत्ता को जैसे आप ही आप भीतर से ही अपना कृष्ण कहने लगी थीं और यह भी समझने लगी थीं कि उसके साथ एक दिन भेंट होगी और उसी के साथ-साथ भागवत कार्य भी करना है। चित्रकार ये थीं ही इसलिए चित्त पर पड़े हुए प्रभावों के आधार पर अपने उस कृष्ण की एक भावाकृति भी इन्होंने बनायी थी।

"कई वर्ष ये उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में मोरक्को राज्य के टैंजियर नगर में रहीं। वहां थियों नाम के एक पोलैंडवासी सज्जन अपनी फ्रेंच पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों गुह्य विद्याओं के अच्छे ज्ञाता थे, पत्नी तो

बहुत ही कुशल और अनुभवी थीं। श्री मां वहां रहकर इस दम्पति से उन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर रही थीं।"

अपने बचपन के दिनों का वर्णन करते हुए श्री मां ने लिखा है : "मुझे 11 से 13 वर्ष की ही आयु में जो अनेक-अनेक आध्यात्मिक और चैत्तिक अनुभूतियां हुईं उनसे भगवान की सत्ता ही नहीं, मनुष्य की यह संभावना भी स्पष्ट हो गयी कि उसे भगवान का साक्षात्कार होगा, वह चेतना और कर्म की अखण्डता में उन्हीं को अभिव्यक्त करेगा, उन्हें धरती पर दिव्य जीवन के रूप में साकार करेगा।"

'प्रेअर्स ऐण्ड मेडिटेशन्स' शीर्षक से श्री मां की जो आध्यात्मिक डायरी प्रकाशित हुई है उसमें उनकी ऐसी कितनी ही अनुभूतियां अंकित की हुई मिलती हैं जिनसे उनकी साधना के स्वरूप और धरती पर जन्म लेने के वास्तविक उद्देश्य का पता चलता है। उन्हीं अनुभूतियों में से एक यह है :

"मैं जब छोटी ही थी, लगभग 13 वर्ष की, तो प्रायः पूरे एक वर्ष तक रात को सोते समय नित्य ऐसा लगता मानों देह को वहीं पड़ा छोड़कर मैं आकाश में सीधे ऊपर को उठ गयी हूं। पहले उस घर से ऊपर, फिर समूचे नगर से ऊपर, और बाद को बहुत-बहुत और भी ऊपर। मुझे तब दिखता कि मैं एक भव्य स्वर्णिम वस्त्र में लिपटी हुई हूं जो मुझसे कहीं अधिक लम्बा है और मैं ज्यों-ज्यों ऊपर को उठती जाती हूं वह और भी लम्बा होता हुआ मेरे चारों ओर गोल घेरे में नीचे ऐसे फैल जाता है जैसे पूरे नगर के ऊपर एक विशाल छाजन बन जाता हो।

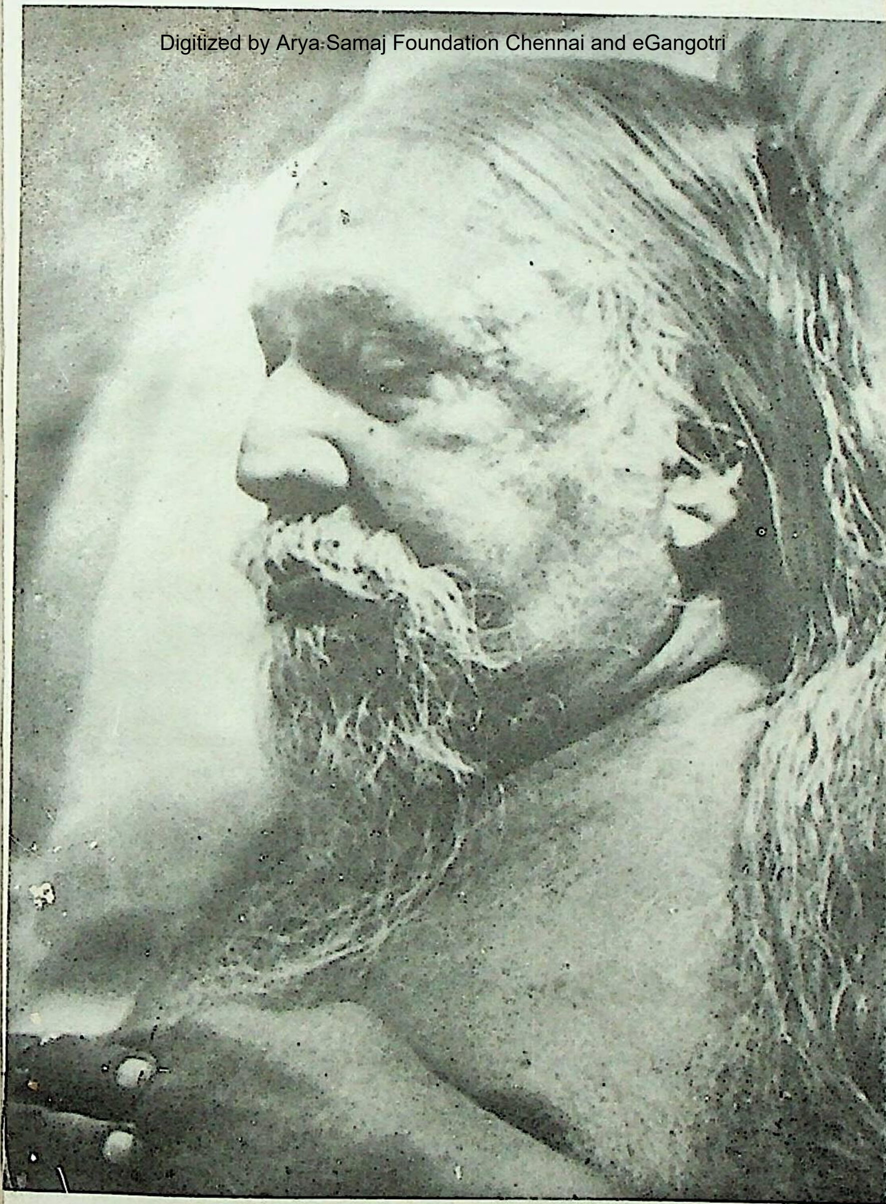
"फिर मुझे दिखता कि चारों ओर से निकल-निकलकर स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, रोगी-दुखियारे सब उसी छाजन के नीचे भीड़ की भीड़ आकर खड़े हो गये हैं और अपने कष्टों-क्लेशों की आर्त पुकार करते गुहार लगा रहे हैं। वह वस्त्र फिर उनमें से हरेक की ओर को ऐसे बढ़ता मानों उसमें प्राणों का स्पन्दन भरा हो और ज्यों ही उन्हें उसका स्पर्श मिलता कि उनके

दुख-दर्द बिला जाते और वे एकाएक बड़ा स्वस्थ और प्रसन्न मन लिये हुए अपने-अपने शरीर में लौट जाते ।"

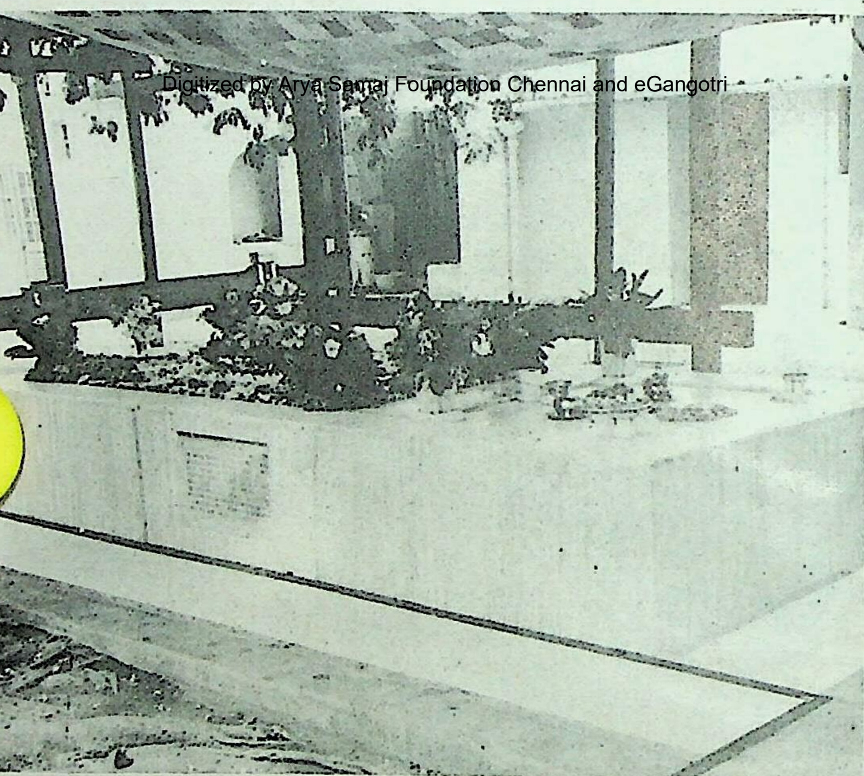
श्री मां एक वर्ष से कम ही पांडिचेरी ठहरीं, क्योंकि प्रथम महायुद्ध छिड़ चुका था। 22 फरवरी 1915 को वे फ्रांस लौट गयीं। फ्रांस से 1916 में जापान चली गयीं और फिर भारत आ जाने तक चार वर्ष वहीं रहीं। वहीं 1919 में रवीन्द्रनाथ टैगोर उनसे मिले। दोनों कुछ दिन एक ही होटल में भी थे। रवीन्द्रनाथ ने उनसे शान्तिनिकेतन का कार्यभार संभाल लेने के लिए अनुरोध किया था। पर वे जानती थीं कि उनका भावी कार्य तो श्री अरविन्द के साथ रहकर होना है, इसलिए सहमत नहीं हुईं।

22 फरवरी 1915 को फ्रांस लौट आने के बाद श्री मां समय-समय पर श्री अरविन्द को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषय में लिखा करती थीं और श्री अरविन्द उनके पत्रों का उत्तर देते थे। 26 जून 1916 के अपने एक ऐसे ही पत्र में श्री अरविन्द ने लिखा था: "अतिमानसी ज्योति और शक्तिधारा को दृढ़ता से अधिकृत कर लेने के लक्ष्य की ओर ही अब सारा बल लग रहा है। पर प्रगति में बाधाएं आयीं। मन ने जब भी अतिमानसी ज्योति और आदेश की ओर खुला रहने का प्रयत्न किया, बुद्धिगत विचारों और मनोगत इच्छाओं का पुराना अभ्यास आ-आकर उसे अपने सुझावों से भर देता। परिणाम यह होता कि फिर भागवत ज्ञान और आदेश मन तक पहुंचते तो सही, पर बहुत उलझे हुए, अस्त-व्यस्त और विकृत रूप में; कभी-कभी तो ये भ्रम में भी डाल देते।"

15 अगस्त 1914 को श्री अरविन्द ने श्री मां के सहयोग से 'आर्य' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका के दो उद्देश्य थे। एक था जीवन के समूचे अस्तित्व से सम्बन्धित भारी से भारी समस्याओं तक का व्यवस्थित अध्ययन करना; और दूसरा था समस्त उपलब्ध ज्ञान के एक समन्वित रूप की संरचना, जिसमें पूर्व और पश्चिम के मानवमात्र की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का सामंजस्य हो। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जो नीति 'आर्य' ने अपनायी वह बड़ी ही यथार्थवादी थी:

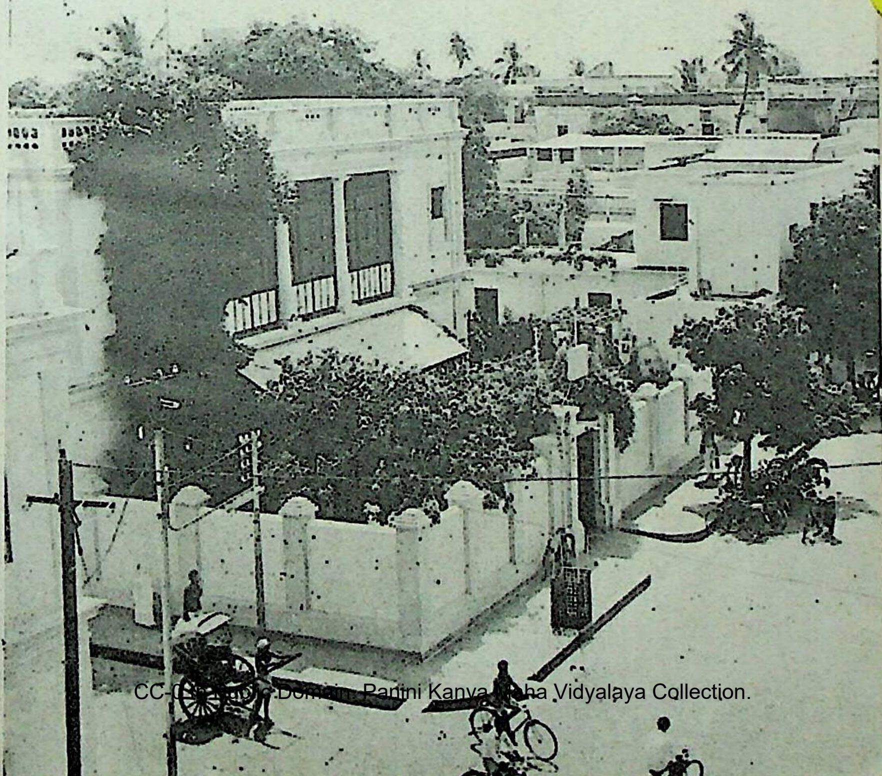


चित्र 5—दिसंबर 1950. महासमाधि



चित्र 6—आश्रम में श्री अरविंद की समाधि

चित्र 7—आश्रम के प्रमुख भवन



चित्र 8—श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र की सालगिरह के अवसर पर आश्रम के मैदान में 1 दिसंबर की परेड का दृश्य

[चित्र] 9—भविष्य के विश्व-नगर औरोविले का एक वास्तुकार की दृष्टि में कल्पना-चित्र

अर्थात जो बुद्धिसंगत भी थी और परात्पर दृष्टि-युक्त भी, जिसमें ज्ञान और विज्ञान को अंतर्दृष्टीय अनुभूतियों के साथ एक कर लिया गया था। सोचा यह भी गया था कि पत्रिका उन अनेक समिति-संस्थाओं का भी मुखपत्र बन जाये जो उससे प्रेरणा ग्रहण करती हुई प्रकाश में आयें।

साथ ही साथ 'रिव्यू द ग्रांद सिंथीज़' (अ रिव्यू ऑव द ग्रेट सिन्थेसिस) नाम से 'आर्य' का फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी पांडिचेरी से प्रकाशित किया गया। पर महायुद्ध के जोर पकड़ जाने के कारण थोड़े ही महीनों बाद इसे बंद कर देना पड़ा।

श्री अरविन्द की जो अनेक कृतियां धारावाहिक रूप से 'आर्य' में आयीं वे हैं: द लाइफ डिवाइन, द सिन्थेसिस ऑव योग, द ह्यूमन साइकिल, द आइडियल ऑव ह्यूमन यूनिटी, द सीक्रेट ऑव द वेद, द एसेज ऑन द गीता, द फाउण्डेशंस ऑव इण्डियन कल्चर, और, द फ्यूचर पोएट्री। इनके अतिरिक्त उनके कई लेख—द व्हेअरफोर ऑव द वर्ल्ड्स, ऐनोटेटेड टेक्स्ट्स; ईशोपनिषद, आदि—उसमें निकले; और इन सबके अतिरिक्त कुछ विविध रचनाएं भी उसमें आयीं जैसे: द सोल ऑव अ प्लाण्ट, द क्वेस्चन् ऑव द मन्थ, द न्यूज ऑव द मन्थ, द साउथ इण्डिया ग्रॉन्जेज। श्री अरविन्द का जितना भी लेखन था सब उनके गम्भीर अनुशीलन और मनन-चिंतन की देन होता था। जैसे एक कोई विराट शक्ति थी जो ऊपर से संप्रेरित और बाध्य करती हुई चली आती थी और लेखनी की नोक से 'आर्य' के पन्नों की सामग्री निर्बाधि झरती चली जाती थी।

1921 के प्रारम्भ में इस पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया। पत्रिका बहुत ही उपयोगी और हितकर सिद्ध हो रही थी; पर श्री अरविन्द अब अपने जीवन के वास्तविक कार्य, अर्थात अतिमानसी सत्यचेतना में प्रवेश, और उसकी शक्ति के अवतरण, में इतने अधिक तल्लीन रहने लगे थे कि पत्रिका के लिए लिखने का समय ही नहीं होता था।

24 अप्रैल 1920 को श्री मां अंतिम रूप से पांडिचेरी आ गयीं। उसी वर्ष 24 नवम्बर को भयंकर वर्षा और तूफान आये और जिस घर में वे

रहती थीं उसकी छत को बहुत नुकसान पहुंचा। श्री अरविन्द ने सुना, और यह भी उन्हें पता चला कि श्री मां का वहां बने रहना अब निरापद नहीं, तो उन्होंने रू फ़्रांस्वां मारतें के 41 नम्बर वाले उसी घर में उन्हें बुला लिया जहां वे स्वयं उन दिनों रहते थे।

1921 से आश्रम में सामूहिक ध्यान कराया जाने लगा। सब लोग इसके लिए प्रायः दोपहर बाद चार बजे एकत्र हुआ करते थे। ध्यान के बाद विभिन्न विषयों पर वार्ताएं होती थीं।

1 जनवरी 1922 से आश्रम की सारी व्यवस्था श्री मां ने अपने हाथों में ले ली। सितम्बर में रू फ़्रांस्वां मारतें के 41 नवम्बर वाले घर से हटकर सब लोग 9 नवम्बर रू दे ला मारीन आ गये। पहले वाला घर अब 'अतिथिगृह' कहलाने लगा और यह नया स्थान ही अब आश्रम का मुख्य आवास बना हुआ है। यहीं पर श्री अरविन्द की समाधि भी है।

10. अतिमानस का अवतरण

श्री अरविन्द अपनी साधना में निरन्तर लगे हुए थे। उनसे इण्डियन नेशनल कांग्रेस की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए कई बार अनुरोध किया गया। पर उन्होंने हर बार अपनी असमर्थता ही प्रकट की। इस सम्बन्ध में जो पत्र उन्होंने डॉ. मुंजे को अगस्त 1920 में लिखा वह महत्वपूर्ण है :

"मैंने जैसा तार द्वारा सूचित किया, नागपुर कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में मैं अपने को बिलकुल असमर्थ पाता हूं। मैं तो निश्चित रूप से एक दूसरे ही प्रकार के कार्य को अपना चुका हूं। इस कार्य का सम्पूर्ण आधार आध्यात्मिक है और इसका लक्ष्य भी एक बिलकुल ही क्रांतिकारी ढंग का आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पुनर्निमाण करना है। मेरा पूरा ध्यान और सारी शक्ति इन दिनों इसी दिशा में प्रयोग करने और कराने में लग रही है। सच तो, यही मेरे शेष जीवन का मिशन बन गया है।"

श्री अरविन्द योग-साधना के लिए ऐसे सभी व्यक्तियों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया करते थे जिन्हें उसके योग्य देखते। अम्बुभाई पुराणी उनके ऐसे ही शिष्यों में से थे। यह राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध थे और श्री अरविन्द से दिसम्बर 1918 में आकर मिले थे। श्री अरविन्द ने उनकी साधना आदि के विषय में पूछा। पुराणीजी ने सब बताते हुए कहा था : "देश के स्वतन्त्र न हो जाने तक बिलकुल ही इधर लग जाना तो मुश्किल होगा।" श्री अरविन्द इस पर बोले थे : "मान लो उसका भरोसा तुम्हें दे दिया जाये, तो ?" पुराणीजी उलझन में पड़ गये। उनके मुंह से निकला : "पर इस प्रकार का भरोसा दे ही कौन सकता है ?" श्री अरविन्द का उत्तर था : "मैं ही अगर दूं ?" पुराणीजी संतुष्ट हो गये; बोले : "आप देते हैं

तो ठीक।" श्री अरविन्द ने सीधे उनकी ओर देखते हुए तब कहा : "हां मैं भरोसा देता हूं, भारत स्वतन्त्र हो जायेगा।"

प्रश्न का समाधान हो गया। पुराणीजी प्रसन्न मन से गुजरात चले गये। 1921 में पांडिचेरी लौटे तो उन्होंने श्री अरविन्द की समूची देह को एक स्निग्ध शुभ्र आभा से दीप्त पाया। श्री अरविन्द ने बताया कि उच्चतर चेतना जब मनोमय स्तर से उतरकर प्राणमय और इससे भी नीचे के स्तर पर आ जाती है तब समूचे प्राणमय और अन्नमय देहतंत्र का रूपान्तर हो जाता है। कुछ दिनों बाद पुराणीजी ने पूछा : "अब और काहे की प्रतीक्षा है ?" श्री अरविन्द अपने सदा के कोमल स्वर में बोले : "हां भागवत चेतना अवतरित तो हुई है पर अभी शरीर के स्तर पर नहीं आयी। जब तक यह नहीं होता, मेरा काम अधूरा रहता है।"

1921 के जाड़ों में ईंट-पत्थरों वाली घटना हुई। आश्रम में वेट्टल नाम का एक रसोइया था जिसे काम से अलग कर दिया गया था। उसने क्रोधावेश में आकर एक मुसलमान फकीर का सहारा लिया जो जादू-टोनों और अभिचार-क्रियाओं में कुशल था। इस फकीर ने उधर कहीं पड़े ईंट-पत्थर के टुकड़ों को, वहां से उनका अभौतिकीकरण करके फिर दूसरी जगह पूर्ववत् बनाते हुए, आश्रम में एक घर पर अंधाधुंध बरसाना शुरू किया। पुलिस को बुलाया गया, पर जैसे ही एक बड़ा-सा रोड़ा सनसनाता हुआ आया और एक सिपाही की टांगों के बीच से होकर सामने गिरा, तो वह बदहवास होकर उलटे पांव लौट गयी। वेट्टल के स्थान पर काम करने के लिए जो नया नौकर घर में आया था वही इस सारे उत्पात का विशेष लक्ष्य था।

श्री मां से ये कांड छिपे न थे। उन्हें समझते देर न लगी कि अवश्य इस नौकर और इस घर के बीच कोई अन्तर्सम्बन्ध है और उसी पर यह सारी घटना आधारित है। नौकर को उसी दिन हटा दिया गया और वह उत्पात शान्त हो गया। पर वेट्टल ऐसा बीमार पड़ा कि लेने के देने पड़ गये। उसकी पत्नी रोती हुई श्री अरविन्द के पास दौड़ी। श्री अरविन्द तो परम उदार !

यह कहते हुए क्षमा कर दिया : "हां-हां उतने-से अपराध के लिए उसके प्राण क्यों जायें !" और वेट्टल अच्छा हो गया।

1923 में साधकों और शिष्यों ने श्री अरविन्द का जन्म-दिवस मनाने का निश्चय किया। श्री अरविन्द इस पर बोले : "ऋत को जीवन में उतारकर ही तो उत्सव मना सकते हैं।" अगले वर्ष जब जन्म-दिवस मनाया गया तब उन्होंने कहा : "मुझे तो मौन चेतना के द्वारा सम्प्रेषण करना अधिक अच्छा लगता है। कारण : वाणी का शब्द केवल मन तक पहुंचता है, उसके परे तो केवल मौन चेतना ले जा सकती है।"

दो वर्ष बाद 24 नवम्बर 1926 को वह परम महत्वपूर्ण घटना घटी जब भौतिक में अधिमानस का अवतरण हुआ। श्री अरविन्द के शिष्यों में तथा उनसे प्रभावित अन्य क्षेत्रों में यह दिन 'सिद्धि दिवस' के नाम से प्रसिद्ध है। आश्रम के चार 'दर्शन दिवसों' में भी यह सम्मिलित है।

वास्तव में 1926 के प्रारम्भ से ही साधकों को एक उच्चतर शक्ति का दबाव उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अनुभव होने लगा था। और वे सभी मार्ग-दर्शन के लिए श्री मां की ओर देखने लगे थे। चारों ओर वातावरण में एक अद्‌भुत प्रतीक्षा का भाव व्याप्त था। 24 नवम्बर 1926 की सांझ आयी तो आश्रम के तमाम साधकों को कहलाया गया और वे सब आकर उस बरामदे में इकट्ठा हुए जहां सामूहिक ध्यान किया जाता था। संयोग की बात कि इन सबकी संख्या भी 24 ही थी।

बरामदे में जहां श्री अरविन्द और श्री मां बैठे थे, वहां उनके पीछे दीवार पर एक परदा टंगा था जिस पर सुनहली जरदोजी के तीन चीनी महासर्प बने हुए थे। श्री अरविन्द और श्री मां ने साधकों को आशीर्वाद दिया और फिर थोड़ी देर ध्यान किया गया। आश्रम में यों ही एक अनूठी शान्ति और मृदु प्रकाश की छटा व्याप्त रहती थी, उस दिन तो आश्रम जगर-मगर कर रहा था।

श्री अरविन्द ने इस घटना के विषय में बताया : "24 नवम्बर 1926 के दिन कृष्ण-चेतना का भौतिक देह में अवतरण हुआ। पर कृष्ण स्वयं ऋतं-ज्योति, अतिमानसी प्रकाश, नहीं हैं। कृष्ण के अवतरण का तात्पर्य होता है अधिमानसी देवत्व का अवतरण। अर्थात अतिमानस और परमानन्द के अवतरण की भूमि अब बन गयी।"

और फिर तीस वर्ष बाद 1956 में धरती की जड़ चेतना में अतिमानस का सचमुच अवतरण हुआ।

नवम्बर 1926 के बाद श्री अरविन्द ने साधकों और दर्शनार्थियों से व्यक्तिगत सम्पर्क बंद कर दिया। वे अब नितान्त एकांतनिष्ठ होकर रहने लगे। आश्रम की सारी देखरेख और व्यवस्था श्री मां करती थीं। पर श्री अरविन्द के इस प्रकार एकांतवासी हो रहने पर कुछ साधकों को उद्विग्नता हुई। श्री अरविन्द ने सबको समझाया :

"तुम लोग सोचते हो कि श्री मां तुम्हारे लिए सहायक नहीं हो सकेंगी। वास्तव में तुम यदि इन्हीं की सहायता का लाभ नहीं उठा सकते तब मेरी सहायता का तो और भी कम उठा सकोगे। जो भी हो, साधकों के लिए एक बार जो व्यवस्था बना चुका—अर्थात कि वे अब प्रकाश और शक्ति श्री मां से प्राप्त करें, मुझ से नहीं, और इन्हें ही अपने आध्यात्मिक विकास का मार्गदर्शक भी समझें—उसे मैं बदलने नहीं जा रहा। मैंने यह व्यवस्था किसी तात्कालिक उद्देश्य को लेकर नहीं बनायी है; बल्कि इसलिए बनायी है कि साधक यदि सचमुच खुला हुआ और ग्रहणशील है तो उसके लिए (यह ध्यान में रखते हुए कि श्री मां वास्तव में क्या हैं और कितनी-कितनी उनकी शक्ति-सामर्थ्य है) यही एक मात्र सही और सार्थक मार्ग हो सकता है।"

लगभग इन्हीं दिनों एक ऐसी धारणा भी प्रचलित हुई थी कि श्री अरविन्द के योग में नया कुछ नहीं है। 'अतिमानस' आदि कुछ शब्द भले नये हों, पर और तो जो कुछ भी उसमें है वह प्राचीन योगियों द्वारा प्रत्यक्ष

किया जा चुका है। श्री अरविन्द ने इस भ्रान्त धारणा को दूर करने के लिए लिखा : "कुछ लोग सोचते हैं कि इस योग की साधना अतीत में अनगिनत बार की जा चुकी है और दिव्य ज्योति भी अवतरित हुई और लौट-लौट गयी। ऐसा सोचना सही नहीं जान पड़ता। मैं तो देखता हूं कि अतिमानसी भौतिक देह अभी तक नीचे उतारकर लायी ही नहीं गयी। लायी गयी होती तो यहां कहीं होती भी। हमें इसलिए चाहिए कि अपने प्रयत्न को न अनादर दें न उसके सफल होने में बाधा पहुंचायें।"

और अतिमानस की साधना चलती रही। उसके अवतरण के लिए आधारभूमि तैयार की जाती रही।

1935 में श्री अरविन्द ने लिखा : "आश्रम में पांच-छह जन तो अब भी हैं जिन्होंने कुछ-न-कुछ भागवत अनुभूति लाभ की है। कुछ को वेदान्तपरक और कुछ को भक्तिपरक अनुभूतियां भी हुई हैं। पर इन अनुभूतियों का कोई महत्व नहीं है। कारण, अन्यत्र जिसे पूर्ण सिद्धि समझा जाता है वह तो यहां सिद्धि का प्रथम चरण मात्र होता है। यहां की कसौटी तो दिव्य रूपान्तर की है : पहले अपनी प्रकृति का रूपान्तर, फिर चैत्तिक और आध्यात्मिक, और अंत में अतिमानसी रूपान्तर।"

24 नवम्बर 1938 को भोर से पहले दो के लगभग क्या जाने कैसे श्री अरविन्द का पांव फिसला और दाहिने घुटने में भारी चोट आयी। उस बार 'दर्शन' नहीं हो सका। श्री अरविन्द ने इस प्रसंग में कहा :

"दर्शन जैसे अवसरों पर विरोधी शक्तियों ने बहुत बार बाधा डालने की चेष्टा की है। मैंने हर बार ही उनके आक्रमण को विफल किया। इस बार जब चोट आयी तो मैं श्री मां को बचाने में लगा हुआ था, अपना ध्यान मुझे नहीं रहा। वास्तव में मुझे कल्पना तक न थी कि वे मेरे ऊपर भी आक्रमण करेंगी। यहीं मेरी चूक हुई।" एक अन्य संदर्भ में उन्होंने इन बाधाओं के बारे में लिखा : "निस्संदेह मैं तो इन्हें एक युद्ध के तथ्यों जैसा मानता हूं।"

पर चोट की इस दुर्घटना के कारण कई साधकों और डॉक्टरों को अपने हाथों उनकी सेवा करने का सुअवसर जरूर मिल गया।

नवम्बर 1926 से बिलकुल ही एकांतनिष्ठ हो जाने के बाद श्री अरविन्द वर्ष में केवल तीन बार दर्शन देते थे : 21 फरवरी को, 15 अगस्त को, और 24 नवम्बर को। 1931 से 24 अप्रैल को चौथा दर्शन दिवस मनाया जाने लगा। ये चारों दिवस थे : श्री मां का जन्म-दिवस, स्वयं श्री अरविन्द का जन्म-दिवस, सिद्धिदिवस, और श्री मां के अंतिम रूप से पांडिचेरी आ जाने का दिवस।

एक बार एक दर्शन-दिवस पर एक अन्ध साधु भी आये। किसी ने उनसे पूछा : "आप देख ही नहीं सकेंगे तो फिर आना ही किस अर्थ का ?" साधु ने उत्तर दिया : "बाबा, अधिक महत्व इस बात का होगा कि उनकी एक भागवत दृष्टि मेरे ऊपर पड़ जाये।"

सचमुच कितने-कितने लोग अपने को इसी में पूर्ण काम मानते-बूझते थे कि दर्शन के समय वे पहुंच सकें और अन्तरात्मा की दूरतम-गहराइयों तक पैठती हुई श्री अरविन्द की एक दृष्टि उन्हें मिल जाये ! बहुत लोग तो सोचा करते कि क्या ही अच्छा हो यदि दर्शन प्रतिमास हुआ करें ! सबकी इच्छा श्री अरविन्द तक पहुंचायी भी गयी थी। उन्हें स्वीकार न हुई। बोले : "मैं यदि प्रतिमास बाहर आया तो उसका प्रभाव एक-तिहाई घट जायेगा।"

11. आध्यात्मिक : शक्ति सक्रिय रूप में

श्री अरविन्द ने अपनी गहरी और सूक्ष्म दृष्टि विश्व में जहां जो हो रहा था उस पर बराबर रखी थी। सितम्बर 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा तो शुरू में उन्होंने कोई दिलचस्पी उसमें नहीं दिखायी। पर जब फ्रांस ने नाजी सत्ता के आगे समर्पण कर दिया और ब्रिटिश सेनाओं को भी मोरचे छोड़कर डन्कर्क की राह हटना पड़ा तब श्री अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति मित्र राष्ट्रों के पक्ष में लगायी। और यह देखकर उन्हें सन्तोष हुआ कि फिर जर्मन सेनाओं की बाढ़ रुक गयी और युद्ध का पांसा पलटने लगा।

जिन महापुरुषों की आध्यात्मिक चेतना बहुत विकसित होती है उनमें एक विशेष क्रियात्मक आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है। जैसे ही यह शक्ति श्री अरविन्द को प्राप्त हुई कि उन्होंने उसका प्रयोग पहले तो व्यक्तिगत कार्यों के सीमित क्षेत्रों में किया और फिर बराबर उसे विश्व शक्तियों पर ही लगाया। 13 मार्च 1944 को एक साधक को उन्होंने लिखा भी : "निश्चित रूप से मेरी शक्ति का प्रयोग अब केवल आश्रम तक सीमित नहीं है। तुम जानते ही हो इसका मुख्यतः प्रयोग इस महायुद्ध को उचित दिशा देने और मनुष्य जगत् में अभीष्ट परिवर्तन लाने की ओर हो रहा है।"

एक अन्य साधक को लिखे पत्र में उन्होंने युद्ध में अपने हस्तक्षेप करने के कारण भी स्पष्ट किये हैं : "इस युद्ध को मात्र ऐसा युद्ध नहीं समझना चाहिए जहां कुछ देश अन्य कुछ देशों के साथ लड़ते हों या जो भारत के ही लिए हो रहा हो। यह युद्ध तो एक विराट् संघर्ष है उस आदर्श के लिए जिसे मानव जाति के जीवन-काल में ही धरती पर प्रतिष्ठित होना है : उस सत्यता के लिए जो स्वयं अभी अपने को पूर्ण रूप में साकार करने में लगी हुई है, और उस सारे अंधकार और मिथ्यात्व के प्रतिरोध के लिए जो

निकट भविष्य में ही समूची धरती और मानवमात्र को धर दबोचने की जुगत में लगे हैं। हमें तो देखना उन दानवी शक्तियों को है जो इस युद्ध के मूल में हैं, सामने की इन छोटी-मोटी ऊपरी घटनाओं को नहीं।

"इसमें जरा भी संदेह नहीं कि उस पक्ष की यदि जीत हो गयी तो मानव की स्वतन्त्रता ही नहीं चली जायेगी, आगे के लिए प्रकाश और सत्य की ओर से भी हताश रहना पड़ेगा; और फिर जो सब करने का है वह तो ऐसी परिस्थितियों से घिरा हुआ होगा कि कुछ भी कर सकना ही असम्भव हो जायेगा। धरती पर तब अंधकार और मिथ्यात्व का साम्राज्य होगा और मानव जाति के अधिकांश को एक ऐसे क्रूर दमन और दुर्गति का आखेट बनना पड़ेगा जिसकी स्वप्न तक में कल्पना नहीं की जा सकती।

"और यदि यह दूसरा पक्ष, जिसने मनुष्य मात्र के स्वतन्त्र भविष्य की स्वयं घोषणा की है, जीत जाता है तब वह सारी विभीषिका टल जायेगी और ऐसी स्थिति भी आ सकेगी कि जो भागवत कार्य करना है उसके आदर्श को फलने-फूलने के लिए अवसर हो और धरती पर उस परम आध्यात्मिक सत्य-बोध की प्रतिष्ठा हो सके जो हमारा एकांत ध्येय है। वास्तव में जो कोई इस उद्देश्य को लेकर युद्ध में आये है वे आसुरी आधिपत्य का विरोध करते हुए दैवी युद्ध में खड़े हैं।"

श्री अरविन्द ने युद्ध कोष में सहायता दी थी। बाद में जब 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपना प्रस्ताव लेकर आये कि युद्ध के बाद भारत को एक पूर्ण स्वतन्त्र उपनिवेश की स्थिति दे दी जायेगी तब श्री अरविन्द ने उसे मान लेने की सलाह दी थी। मगर भारत के नेता उनकी सुनने को तैयार न थे। उन्हें तब विवश होकर आततायी को रोकने के लिए अपनी आध्यात्मिक शान्ति का ही भरोसा करना पड़ा।

कई कारणों से श्री अरविन्द ने जापान के विरुद्ध अभी तक हस्तक्षेप नहीं किया था। पर जैसे ही उसका यह इरादा खुला कि भारत पर वह आक्रमण ही नहीं करेगा बल्कि इसे अपने अधिकार में भी कर लेना चाहता है, श्री अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया और उन्हें

इससे वड़ा सन्तोष हुआ कि जो जापान अपने आगे से सभी को तिनके जैसा वहाता आया था उसी की एक के बाद एक होती जय का क्रम हठात् उलटा और उतनी ही तेजी के साथ जाकर अन्त को घोर पराजय में ठहरा।

कुछ ही समय बाद यह देखकर उनके मन को और भी सन्तोष मिला जब भारत के भविष्य की जो छवि उनकी आंखों में आयी थी उसकी भी सत्यता साकार होने लगी और कितनी ही भीतरी कठिनाइयां रहते हुए भी देश स्वतन्त्र हो गया।

श्री अरविन्द ने उस काल में कई अन्य अवसरों पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति का चुपचाप प्रयोग किया था। उनके अपने शब्दों में : "स्पेन में मैं बहुत सफल रहा। जनरल मियाचा बड़े ही अच्छे मीडियम साबित हुए। आध्यात्मिक शक्ति का तो सारा कार्य ही मीडियम पर निर्भर करता है। बास्क ने बिलकुल असफल ठहराया। नेगस स्वयं तो उपयोगी मीडियम था, पर उसके सैनिक जुझार होते हुए भी बहुत असंगठित और अस्त-व्यस्त थे। मिस्र में भी असफलता रही। पर आयरलैंड और टर्की में भारी सफलता मिली। आयरलैंड में तो मैं वह कर सका जो बंगाल में करना सोचता था।"

श्री अरविन्द के इस सारे महान कृतित्व पर उनके महाकाव्य 'सावित्री' की यह पंक्ति ही उपयुक्त बैठी है :

"विश्व यह,
यहीं तो विश्व के अनजाने वह रही !"

एक अन्य स्थल पर श्री अरविन्द ने कहा है; "बड़ा ही हास्यास्पद और दर्पयुक्त लगेगा यदि मैं कहूं कि रूसी क्रान्ति के सफल होने के लिए मुझे पूरे तीन वर्ष उद्योग करना पड़ा था। मैं उन प्रेरक शक्तियों में से हूं जो इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए कार्य कर रही थीं।"

भारत को स्वतन्त्रता 15 अगस्त 1947 को मिली थी। इस अवसर पर जो सन्देश श्री अरविन्द ने दिया और जिसमें उनके भारत के भविष्य से सम्बन्धित सपनों का उल्लेख है, उसके कुछ अंश आगे के पृष्ठों में दिये हैं :

"15 अगस्त 1947 का दिन मेरा अपना जन्म-दिवस है। मुझे यह देखकर स्वभावतः प्रसन्नता हुई है कि इस दिन को इतना भारी महत्व मिला। मैं इस संयोग को निरा आकस्मिक नहीं मानता। मैं तो इसे उसी दैवी शक्ति की इच्छा और उसी का विधान समझता हूं जो मेरे जीवन-कार्य के पग-पग का निर्देशन करती आयी है, और यह मेरे उसी जीवन-कार्य के पल्लवन का प्रारम्भ है। सच तो, आज मैं उन सभी विश्व आन्दोलनों को फलते-फूलते हुए या उस दिशा में डगें भरते हुए देख रहा हूं जिन्हें अपने जीवन-काल में सफल होता देखने की मैंने आशा की थी, भले ही उस समय वे निरे दुःसाध्य सपनों जैसे लगे थे।

"इन्हीं सपनों में एक था : देशव्यापी क्रान्तिकारी आन्दोलन और एक स्वतन्त्र और अखण्ड भारत की संरचना। भारत स्वतन्त्र हो गया, पर अखण्डता प्राप्त नहीं कर सका। इस अखण्डता को प्राप्त करना है और प्राप्त इसे किया ही जायेगा। जैसे बने और जो भी उपाय अपनाना पड़ें, इस विभाजन को मिटाना होगा। भारत की अखण्डता भारत के महान भविष्य के लिए आवश्यक है।"

"दूसरा सपना था कि एशिया के तमाम देशों का पुनरुत्थान हो, वे स्वतन्त्र हों और मानव सभ्यता के विकास के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण भूमिका एशिया की थी उसे यह फिर से प्राप्त करें। और एशिया जाग उठा है। कई बड़े-बड़े भाग आज बिलकुल स्वतन्त्र हैं या स्वतन्त्र किये जा रहे हैं; जो अब भी पूर्णतः या अंशतः दासता के बन्धनों में बंधे रह जाते हैं वे भी किसी न किसी प्रकार का घोर संघर्ष करते हुए स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते जा रहे हैं।"

"तीसरा सपना एक ऐसे विश्व संघ का देखा था जो निखिल मानवता के लिए एक अधिक सुन्दर, अधिक शुभ, और भव्य जीवन का बाह्य आधार प्रस्तुत करता हो।"

"मानव जाति को अभिन्न एकता की एक नयी जीवन्त भावना अनुप्राणित करेंगी ही।"

"एक और सपना विश्व को भारत की आध्यात्मिक देन के बारे में था। यह भी सच्चा होने लगा है। भारत की आध्यात्मिकता अब यूरोप और अमेरिका में दिनों-दिन अधिकाधिक मात्रा में प्रवेश करती जा रही है।"

"अंतिम सपना था मनुष्य के क्रमविकास में उस अगले चरण का जो उसे उच्चतर और बृहत्तर चेतना में ले जायेगा और फिर उन तमाम समस्याओं का भी समाधान होने लगेगा जो उसी दिन से उसे उलझाये हुए परेशान करती आयी हैं जब से वह व्यक्ति की और समाज की पूर्णता के लिए सोचने-विचारने के योग्य हुआ।"

12. अपने सूक्ष्म भौतिक रूप में : अतिमानस का अवतरण

पांच दिसम्बर 1950 को मध्यरात्रि में 1.26 पर श्री अरविन्द ने अपनी भौतिक देह को त्याग दिया। उनके शरीर में "इतनी अधिक अतिमानसी प्रकाश संपुंजित था' कि एक सौ ग्यारह घंटे बाद तक भी देह की दीप्ति ज्यों की त्यों बनी रही। वास्तव में "रूपान्तरण की कठिन समस्या के समाधान के लिए" अर्थात अतिमानसीं चेतना को भौतिक में उतार लाने के लिए ही वे अपने शरीर से चले गये थे।

श्री मां ने सबको सूचित किया : "श्री अरविन्द का समाधि संस्कार आज नहीं किया जा रहा। उनके शरीर में अतिमानसी प्रकाश इतनी अधिक मात्रा में संचित हुआ भरा है कि विकृति आने के कोई लक्षण कहीं दिखायी नहीं देते। जब तक उनका शरीर इस अवस्था में बना रहता है तब तक ऐसे ही बिस्तर पर रखा रहेगा।"

कुछ और घोषणाएं भी श्री मां ने इन दिनों कीं जिनमें से दो-चार नीचे दी हैं :

"हे प्रभु, आज सवेरे तूने यह आश्वासन मुझे दिया है कि जब तक तेरा कार्य पूरा नहीं हो जाता, तू हमारे साथ ही रहेगा, और केवल उस चेतना के ही रूप में नहीं जो मार्गदर्शन करती है और प्रकाश देती है बल्कि ऐसे रूप में भी कि समस्त कर्म में तेरी ही क्रियात्मक उपस्थिति बनी हुई दिखे। बिलकुल स्पष्ट शब्दों में तूने वचन दिया है कि अपने सम्पूर्ण भाव में तू यहीं रहेगा और तब तक धरती का वातावरण छोड़कर नहीं जायेगा जब तक कि यह रूपान्तरित न हो जाये। तू कृपा कर कि तेरी इस अद्भुत उपस्थिति

के योग्य हम बन सकें और हमारा सर्वस्व एकमात्र इस संकल्प के अधीन हो जाये कि वह अधिकाधिक पूर्णता के साथ तेरे परम उदात्त कार्य की संपूर्ति के लिए समर्पित हों !"

"मैंने जब उनसे फिर शरीर में लौट आने के लिए कहा तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया : 'मैंने शरीर को जान-बूझकर ही छोड़ा है। इसे फिर ग्रहण नहीं करूंगा। मैं अब अतिमानसी रीति से निर्मित प्रथम अतिमानसी देह में ही प्रकट होऊंगा।"

"हम यहां उसकी उपस्थिति में खड़े हैं जिसने अपने पार्थिव जीवन को केवल इसलिए उत्सर्ग कर दिया कि दिव्य रूपान्तर के कार्य में और अधिक सम्पूर्णता के साथ सहायक हो सके।"

9 दिसम्बर को जब श्री अरविन्द की देह से दीप्ति हटने लगी तब उसे शीशम की एक पेटिका में लिटाकर आश्रम के आंगन में 'सेवातरु' की छांव में रख दिया गया। और उसी दिन से श्री अरविन्द की यह 'समाधि' साधकों को ध्यान-चिंतना के लिए शान्ति और नीरवता की अद्वितीय आश्रय-स्थली, बन गयी है और विश्व के देश-देश से आने वाले भक्त दर्शनार्थियों के लिए एक सहज तीर्थभूमि।

"वास्तव में दुनिया जानती ही नहीं कि उसके लिए श्री अरविन्द ने कितना भारी बलिदान दिया है", यह उद्‌गार व्यक्त करते हुए श्री मां ने बताया, "लगभग एक वर्ष हुआ जब उनसे कुछ बात करते हुए मैंने कहा था कि मेरी इच्छा अब इस शरीर को छोड़ने की हो रही है। वे तब बड़े दृढ़ स्वर में बोले थे : 'नहीं, यह नहीं हो सकता। रूपान्तर के लिए यदि आवश्यक ही हुआ तो मैं जाऊंगा। तुम्हें तो यहीं रहकर अतिमानस के अवतरण और दिव्य रूपान्तर के योग को परिपूर्णता देनी है।"

श्री मां के कथनानुसार "सूक्ष्म भौतिक के लोक में, जो हमारे पृथ्वीलोक के बिल्कुल निकट है, श्री अरविन्द का एक स्थायी आवास है और वहां

जाकर जो कोई उनसे मिलना चाहे मिल सकता है। इस सूक्ष्म भौतिक अवस्था में उनका रूप आदि सब वैसा ही है जैसा धरती पर जीवन-काल में था, अंतर केवल यह है कि अब वे अमरत्व की चिरशाश्ति से युक्त हैं।"

योग-साधना और अन्य सारे कार्य भौतिक और अधिभौतिक स्तरों पर पूर्ववत् चलते रहे। श्री अरविन्द के देह-त्याग के छह वर्ष बाद एक अद्भुत घटना घटी। परिचित क्षेत्रों में यह सुनने में आ रहा था कि 1956 का वर्ष, और विशेषकर 23 अप्रैल 1956 का दिन, असाधारण महत्व का होने वाला है। वास्तव में जो अद्भुत और अलौकिक उस दिन होने को था, अर्थात अतिमानस का अवतरण, वह दो मास पहले 29 फरवरी 1956 को ही हो गया था। श्री मां ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है :

"आज सांझ को भगवान की उपस्थिति, प्रत्यक्ष और भौतिक रूप में, हम सबके बीच ही विद्यमान थी। उस समय मेरा शरीर, बिलकुल सजीव स्वर्ण का बना हुआ, आकार में इस समूचे विश्व से भी विराट् हो गया था और मेरे सामने स्वर्ण का ही एक भारी महाकाय प्रवेशद्वार था। यही द्वार इस संसार को भगवान से पृथक् किये हुए था। ज्योंही मेरी दृष्टि उस द्वार पर पड़ी कि चेतना के मात्र एक ही गति-स्पन्दन में मैंने ज्ञात किया और इच्छा की कि 'अब समय आ चुका है', और मैंने वहां रखे एक प्रचंड घन को दोनों हाथों पकड़कर उठाया और एक, केवल एक, आघात उस द्वार पर किया और वह द्वार टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। और अतिमानसी ज्योति और शक्ति और चेतना की एक अजस्र धारा धरती पर उसी क्षण टूट आयी।"

फिर 24 अप्रैल 1956 को इसी घटना पर बल देते हुए उन्होंने कहा : "धरती पर अतिमानस के अभिव्यक्त होने की बात अब आश्वासन की नहीं रह गयी, वह तो एक वास्तविकता, एक जीवन्त तथ्य, बन चुकी है। अतिमानस धरती पर क्रियमाण है और वह दिन जल्दी ही आ रहा है जब वे लोग

भी उसे मानेंगे और स्वीकार करेंगे, जिनकी आंखें एकदम बंद हैं, जो नितांत अचेतन हैं, और जिन्हें देखने और बूझने की इच्छा ही नहीं है।"

अपने एक संदेश में भी श्री मां ने कहा :

"हे प्रभु सब तेरी इच्छा, मैं केवल पालन करती
नयी ज्योति धरती पर फूटी-फैली
नया विश्व ही अब जन्म ले रहा।
दिये थे जो जो आश्वासन, पूरे हुए पूरे हुए !"

चार वर्ष बाद 29 फरवरी 1960 को श्री मां ने घोषित किया : "अब आगे से 29 फरवरी के दिन को 'भागवत दिवस' माना जायेगा।"

यहां श्री अरविन्द के इस कथन को हम फिर स्मरण कर लें : "जो कुछ करने में हम लगे हुए हैं उसमें यदि एक दिन सफलता मिलती है तो वह कार्य का प्रारम्भ मात्र होगा, पूर्ति नहीं। नयी चेतना के धरती पर आगमन की आधार-भूमि ही उससे द्योतित होगी; इतना अवश्य कि फिर उस चेतना के अभिव्यक्त होने की अनन्त संभावनाएं खुल जायेंगी।"

एक साधक ने एक दिन श्री मां का ध्यान श्री अरविन्द के इस कथन की ओर आकृष्ट किया कि "अतिमानसी चेतना अपनी कार्यान्वयी शक्ति की एक विशेष अवस्था 1967 में प्राप्त कर लेगी" और पूछा : "इस 'कार्यान्वयी शक्ति' से क्या तात्पर्य है ?" श्री मां ने वताया : "लोगों के मन और घटनाक्रम पर निर्णायक भाव से कार्य कर सकने की शक्ति।"

साधक ने तब प्रश्न किया : "इस कार्यान्वयी शक्ति का श्री मां को अपनी भौतिक सत्ता पर और फिर औरों पर तथा समूचे मानव जगत् पर, जिसमें उसकी तमाम प्रमुख समस्याएं भी आती हैं, क्या प्रभाव होता है ?"

उत्तर में श्री मां ने इतना ही कहा : "थोड़ा धीरज रखें तो सब कुछ हम स्वयं ही देख लेंगे।"

13. अतिमानसी भविष्य

नीचे श्री मां के विविध लेखन में से छोटे-छोटे ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनसे अतिमानसी भविष्य के कुछ पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

1958 : "अतिमानसी तत्व अब धरती के वातावरण में प्राय: सब कहीं व्याप्त है और माध्यस्थों एवं अतिमानवों के आविर्भाव की तैयारी में लगा हुआ है, जो इस पुरानी सृष्टि के अन्तर्गत ही एक नयी सृष्टि होंगे। आज का मानव इस नये सृजन के साथ एक सचेतन सम्बन्ध में जुड़ जाये इसी एक उद्देश्य से अतिमानसी तत्त्व मनोमय सत्ता के स्तर पर कार्यशील हैं।"

"विश्व के क्रमविकास में अब अतिमानसी जीवन को प्रत्यक्ष करना है। ज्यों-ज्यों उस जीवन का प्रारम्भ विकसित होता आता है, भले ही प्रकट रूप में उतना नहीं जितना यथार्थ में, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि अतिमानसी जीवन तक प्रवेश पाने का सबसे कठिन उपाय-माध्यम कोई है तो बौद्धिक सक्रियता।"

"धरती पर जो यह नया तत्व, अतिमानसी तत्व, फैलता और सक्रिय होता हुआ आ रहा है उसमें एक ऐसी ऊष्मा, ऐसी शक्ति, और एक ऐसा घना आनन्द होता है कि जिसके आगे तमाम बौद्धिक क्रियाशीलता निरी नीरस और निष्प्राण ठहरती है। यही कारण भी है कि इन बातों को मुंह पर जितना ही कम लायें उतना ही अच्छा।"

"समस्त विवरण और स्पष्टीकरण अधूरे रहेंगे, जबकि भावानुभूति

का एक तनिक-सा क्षण, सच्चे प्रेम से भरे हृदय की एक हल्की-सी उमड़न, और भगवत्कृपा में नहायी हुई प्राण-चेतना का मात्र एक स्फुरण हमें उस लक्ष्य के बहुत-बहुत निकट तक ले जा सकता है।"

"कहा तो यहां तक जा सकता है कि कुशल से कुशल व्याख्याओं की अपेक्षा मात्र एक संवेदना जो सूक्ष्म और निर्मल हो, स्वच्छ और आलोकमय, सुस्पष्ट और अन्तर्गामी हो, प्रवेश द्वार को कहीं अधिक सरलता के साथ उन्मुक्त कर देती है। और इस अनुभूति को यदि कुछ और आगे बढ़ा ले जायें तब तो जैसे ही तुम शरीर की रूपान्तरण क्रिया के निकट पहुंचोगे, जब शरीर की कुछ कोशिकाएं औरों से अधिक तैयार, अधिक लचीली और परिष्कृत-सूक्ष्म होंगी, और तुम प्रभु के अनुग्रह, उनकी इच्छा और उपस्थिति को, तथा उस सारे ज्ञान को भी, जिसे बुद्धि के द्वारा नहीं बल्कि एकात्म होकर ही पाया जा सकता है, प्रत्यक्ष अनुभव करने लगो, अपने शरीर की कोशिकाओं तक में स्पन्दित होता हुआ अनुभव करने लगो, तब उस समय की वह अनुभूति इतनी सम्पूर्ण होगी, इतनी आज्ञात्मक और जीवन्त, इतनी यथार्थ और वास्तविक होगी कि फिर और सभी कुछ निरा निरर्थक और असार सपना जैसा जान पड़ेगा।"

"ऐसा लगेगा कि हम सचमुच कुछ भी तब तक नहीं समझ पाते जब तक अपने पूरे शरीर से ही न समझें।"

1959 : "तुम जानते हो या न जानते हो और तुमने कभी सोचा और चाहा तक भी हो या न हो, पर क्योंकि धरती पर तुम इस समय मौजूद हो इसीलिए अपनी एक-एक श्वास के साथ उस अतिमानसी तत्व को निरन्तर भीतर ग्रहण कर रहे हो जो समूचे वातावरण में व्याप्त हुआ सब कहीं तैयारी में है और जैसे ही तुम अपना निर्णायक पग डग भरोगे कि वह अकस्मात प्रकट हो पड़ेगा।"

1961 : "दो अकाट्य संकेत सामने हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि अतिमानसी तत्व के साथ सम्बन्ध जुड़ चुका है। एक है पूर्ण और सतत समानता का भाव, और दूसरा है उसके ज्ञान के सम्बन्ध में पूरी निश्चितता।

"समानता सचमुच पूर्ण हो इसके लिए आवश्यक है कि वह निरपवाद और अपरिवर्ती हो और सहज और स्वैच्छिक। यह भी आवश्यक है कि उसके ये गुण सभी परिस्थितियों और घटनाओं में अक्षुण्ण बने रहें; सभी प्रकार के सम्बन्धों में वे चाहे भौतिक हों या मनोवैज्ञानिक और चाहे भी जैसा उनका स्वरूप और प्रभाव हो, यथावत् स्थिर रहें।"

1963 : प्रश्न : "अतिमानसी तत्व जब धरती पर अवतरित ही हो चुका है तो अब नया जन्म लिये बिना भी क्या तत्वान्तरण सम्भव हो सकता है ?"

उत्तर : "सम्भव हो सकता है ? सभी कुछ सम्भव हो सकता है। पर तुम जानना क्या चाहते हो ? कि ऐसा तत्वान्तरण कहीं हो भी चुका है या नहीं ?"

"जी।"

"बिलकुल दैहिक स्तर पर तो नहीं, पर सूक्ष्म भौतिक स्तर पर अवश्य। उसे स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों की मध्यवर्ती ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जैसे एक श्वास का अनुभव करें, [illegible] के मृदु झोंके का हो, या बहुत ही कोमल गंध के भाव का किया जाये। अवश्य, यह स्वाभाविक है कि अनुभव होगा उन्हें ही जिनकी अन्तर्दृष्टि विकसित हो चुकी है।"

1965 : "विवेकानन्द को शिव का अवतार बताया जाता है। पर शिव ने तो अपनी इच्छा स्पष्ट रूप से व्यक्त की थी कि वे धरती पर अतिमानसी सृष्टि के साथ प्रकट होंगे। वे यहां उसी समय आयेंगे जब हमारा पृथ्वीलोक अतिमानसी जीवन के लिए उपयुक्त भूमि बन जायेगा। उस समय इन

सत्ताओं में से प्रायः सभी यहां स्वयं प्रकट होंगी। ये तो उस अवसर की प्रतीक्षा में हैं। वास्तव में आज का यह संघर्ष और अप्रकाश ये बिलकुल नहीं चाहते।"

1966 : "सबको बड़ी उतावली है। सभी चाहते हैं कि परिणाम तत्काल सामने आ जायें। और फिर यह भी सब समझ रहे हैं कि अतिमानस को नीचे वे ला रहे हैं। वास्तव में वह एक सामान्य-सी प्राणिक सत्ता मात्र होती है जो नीचे आ जाती है और उनके साथ खिलवाड़ करके अंत को उन्हीं से कुछ उलटा-पुलटा करा जाती है।"

"लेकिन जो यथार्थ शक्तितत्व है, जिसे श्री अरविन्द ने 'अतिमानसी शक्ति' कहा, वह तब तक प्रकट नहीं हुआ करता जब तक कि हम सभी प्रकार के अहंभाव से अपने को मुक्त न कर लें। इसीलिए उसका दुरुपयोग होने का भी भय नहीं रहता। वह शक्ति अपने को व्यक्त ही केवल ऐसे मानव प्राणी में करेगी जिसने पूर्ण आन्तरिक अनासक्ति की अवस्था प्राप्त कर ली हो। मैं कह चुकी हूं कि श्री अरविन्द ने हमसे इसी अवस्था की अपेक्षा की है। आप कह सकते हैं कि यह तो बड़ी ही कठिन साधना की बात है। पर मैं स्पष्ट कर दूं कि हम यहां सरल कामों के लिए नहीं, कठिन कामों के लिए ही हैं।"

1968 : "अतिमानसी शक्तितत्वों का शरीर में सशक्त और दीर्घ-स्थायी रूप में प्रवेश हो और वे सारे में एकदम से पैठ जायें, मानों एक हल्के-से घर्षण के साथ प्रविष्ट होकर सब कहीं व्याप्त हुए उन शक्ति-तत्वों में समूची देह नहा उठी हो, और शिरोभाग नीचे गरदन तक झुका रहे : यह तो वास्तव में ग्रहणशीलता की अवस्था ही नहीं हुई।"

1969 : "एक जनवरी 1969 को ब्राह्ममुहूर्त से पूर्व दो बजे एक चेतना अवतरित होकर धरती के वातावरण में आयी और वहां ठहर गयी। बड़ा

अद्‌भुत अवतरण था वह : दिव्य ज्योतिर्मय और शक्ति, शान्ति, आनन्द से भरपूर ! और उसने समूची धरती को व्याप्त कर लिया।"

"इस वर्ष के प्रारम्भ से ही धरती पर एक नयी चेतना कार्यशील है कि मनुष्य को एक नयी, अतिमानवी, सृष्टि के लिए तैयार करे। यह नयी सृष्टि सम्भव हो इसके लिए आवश्यक है कि जिस तत्व का मनुष्य-शरीर बना हुआ है उसी में भारी परिवर्तन हो। शरीर को अब इसलिए अधिक-से-अधिक ग्रहणशील उस चेतना के प्रति होना चाहिए और उसकी कर्मशीलता के प्रति नमनशील, प्लैस्टिक।"

"अतिमानसी सृष्टि में कोई धर्म आदि न होंगे। जो भागवत इकाई विश्व भर में प्रकट होगी, प्राणिमात्र उसी की अभिव्यक्ति, उसीका विभिन्न रूपों मे पल्लवन-पुष्पन होंगे। मनुष्य आज जिनको देवता कहता है वे भी फिर नहीं रह जायेंगे। क्योंकि नयी सृष्टि में वे स्वयं भी भाग लेते होंगे। यह अवश्य कि इसके लिए धरती पर अतिमानसी तत्वों का अवधारण इन्हें भी करना होगा।

"पर इनमें से यदि कोई अपने जिस लोक में वे इस समय हैं वहीं रहना चुनेंगे, अर्थात धरती पर संदेह रूप में प्रकट होना न चाहें, तब पृथ्वीलोक के अतिमानसी जगत् के समस्त प्राणियों के साथ उनका सम्बन्ध मित्र, सहयोगी, और बराबर वालों का होगा। क्योंकि जो सर्वोच्च दैवी सत्ता है वह स्वयं ही तो धरती पर अतिमानसी जगत के प्राणियों में आविर्भूत होकर प्रकट होगी।"

"दैहिक तत्वों का अतिमानसीकरण हो जाने पर धरती पर शरीर लेकर जनमने में हीनता की बात न होगी। सच तो, बात इससे उलटी ही होगी; क्योंकि तब एक ऐसी परिपूर्णता की प्राप्ति हो जायेगी जिसका अन्यथा मिल पाना सम्भव नहीं होगा।"

"पर ये सब भविष्य की बातें हैं : ऐसे भविष्य की जिसका प्रारम्भ तो हो

चुका है पर जिसे अपने को समग्र रूप में प्रत्यक्ष करते अभी समय लगेगा। इस बीच की यह वर्तमानकालीन स्थिति, जिसमें कि हम हैं, बड़ी असामान्य है, बहुत ही अधिक असामान्य है। आज तक ऐसी स्थिति कभी नहीं रही। हम एक सर्वथा नयी सृष्टि के आविर्भाव की तैयारी में लगे हुए हैं।

"यह सृष्टि अभी तो बड़ी अल्पवया और क्षीण-सुकुमार होगी। क्षीण और सुकुमार अपने सार-सत्त्व में नहीं, केवल बाह्य अभिव्यक्ति में। सब को तो अभी वह मान्य भी नहीं है, उन्हें उसकी अनुभूति ही नहीं होती, बहुत से लोग तो उसे अस्वीकार तक करते हैं। पर वह है यह सुनिश्चित है; सच तो विकसित हो उठने के लिए वह स्वयं प्रयत्नशील है और परिणाम के विषय में निःसंशय, निःसन्दिग्ध।

"फिर भी वहां तक पहुंचने का मार्ग नया है। आज तक कभी उसकी कोई दिशा-रेखा तक नहीं डाली गयी। कौन डालता ! कोई उस ओर गया ही नहीं। उसका तो अब प्रारम्भ हो रहा है : विश्वव्यापी प्रारम्भ। इसीलिए वह एक अत्यन्त साहसिक कार्य है : सर्वथा अप्रत्याशित, सर्वथा अननुमेय।"

14. गुरू और मार्गदर्शक

"प्रवचन, उदाहरण, प्रभाव" : ये ही तीन साधन-उपकरण हैं जिन्हें गुरूदेव श्री अरविन्द ने अपनाया।

क्या होता है स्थान और भाव गुरू का, इस पर उन्होंने 7 अप्रैल 1920 को जो एक पत्र अपने सबसे छोटे भाई बारीन को लिखा उससे प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा : "पहले तुम्हारे योग की बात लूं। तुम चाहते हो कि तुम्हारी योग-साधना का दायित्व-भार मैं संभालूं। मैं तैयार हूं : अर्थात यह दायित्व-भार मैं उस भगवान को सौंप देने के लिए तैयार हूं जो अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा तुम्हें और मुझे दोनों को प्रकट में या परोक्ष में संचालित कर रहा है। पर इसका अनिवार्य परिणाम भी तुम्हें समझ लेना चाहिए। तुम्हें फिर उसी मार्ग विशेष का अनुसरण करना होगा जो भगवान ने मुझे दिखाया है और जिसे मैं पूर्णयोग कहता हूं।"

एक अन्य अवसर पर श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया : "गुरू तो उसे कहेंगे जो चेतना और आत्मसत्ता के उच्चतर स्तरों तक पहुंच चुका हो और जिसे उस चेतना की अभिव्यक्ति या उसका प्रतिनिधि माना जाता हो। ऐसा गुरू अपने प्रवचन और, उससे अधिक, अपने प्रभाव और उदाहरण से ही सहायता नहीं करता, बल्कि अपनी अनुभूतियों को औरों तक संप्रेषित कर सकने की क्षमता द्वारा भी करता है।"

आध्यात्मिक मार्गदर्शन के विषय में श्री मां की अपनी दृष्टि और भूमिका भी यही रहती है। श्री अरविन्द ने कहा है : "उनकी शक्ति और ज्ञान के बिना, उनकी चेतना से बाहर, कुछ भी कभी नहीं किया जा सकता। उनकी सर्वव्यापी चेतना का यदि किसी को अनुभव होता है तो उसे समझना चाहिए कि उस चेतना के पीछे मैं स्वयं भी हूं, और यदि

मेरा होना अनुभव होता है तो इसी प्रकार उनका होना भी समझना चाहिए।"

योग-साधना में, और पूर्णयोग की साधना में तो विशेषकर, गुरू के अन्त:प्रेरण और, कठिन अवस्थाओं में, उनके नियंत्रण और निकट उपस्थिति की अनिवार्य आवश्यकता हुआ करती है। इनके अभाव में बिना भटके-भूले और ठोकर खाये आगे बढ़ना दुष्कर रहता है। कभी-कभी तो असंभव ही हो जाता है। जहां तक श्री अरविन्द की बात है, उनके पत्रों और संध्याकालीन प्रवचन-वार्ताओं से एक हल्का आभास मिलता है कि अपने शिष्यों को वे कितनी-कितनी सहायता देते थे और किस प्रकार उनका मार्गदर्शन करते थे। वास्तव में तो उनका सारा कार्य अन्तर्क्रियाओं और अन्तर्सम्प्रेषण के द्वारा ही होता था।

एक स्थान पर उन्होंने कहा है : "गुरू तो एक ऐसा पुरुष होता है जो अपने सहयात्री बन्धुओं को सहारा दे रहा हो, एक ऐसा बालक जो अन्य बालकों की अगुआई करता चल रहा हो, एक आलोक जो दूसरे दीपों में जोत जगा रहा हो, एक ऐसी जाग्रत आत्मा जो अन्य आत्माओं को जाग्रत करने में लगी हो।" और सचमुच यही सब तो जीवन-भर उन्होंने किया भी ! उनका एक भी शिष्य न था जिसके आगे उन्होंने मार्ग की एक-एक कठिनाई को स्पष्ट न कर दिया हो।

अपने एक पत्र मे उन्होंने लिखा था : "यहां के योग-मार्ग का उद्देश्य औरों से भिन्न है। क्योंकि इसका लक्ष्य सामान्य अज्ञानयुक्त विश्वचेतना से ऊपर उठ जाना ही नहीं है, बल्कि भागवत चेतना की अतिमानसी शक्ति को उतारकर मन, प्राण और देह में इस प्रकार ले आना है कि इनका दिव्य रूपान्तर हो जाये; इस योग का लक्ष्य तो भगवान को यहीं प्रत्यक्ष करना है, जड़तत्व में ही दिव्यत्व का अवतरण कराना है।

"यह लक्ष्य और यह योग अत्यंत कठिन हैं; बहुतों को तो असंभव भी जान पड़ेंगे। सामान्य अज्ञानयुक्त विश्वचेतना की जितनी भी शक्तियां हैं वे सब इसकी विरोधी बनी हुई हैं और इसे आगे बढ़ने से रोकने में लगी हुई हैं।

साधक को इस लक्ष्य के प्राप्त करने में स्वयं अपने भी मन-प्राण और देह अनेक-अनेक दुर्विचारों और विघ्न-बाधाओं से घिरे हुए मिलेंगे।

"तुम यदि पूर्णयोग के आदर्श को पूरे मन से ग्रहण कर सकते हो, मार्ग की तमाम कठिनाइयों का सामना कर सकते हो, समूचे अतीत को और उसके समस्त बंधनों को पीछे ही छोड़ सकते हो, और इस दिव्य संभावना के लिए सब कुछ त्याग सकते हो, अपने सर्वस्व को जोखिम में डाल सकते हो, केवल तब ही यह आशा कर सकते हो कि स्वयं अनुभव द्वारा भागवत सत्य का संधान प्राप्त करो।

"इस योग की साधना किसी नियत मानसिक अवबोधन या ध्यानोपासन की विधि, मंत्र-जप आदि के रूप में नहीं चला करती। इसके लिए तो अपेक्षित है सच्ची अभीप्सा, या अंतर्मुखी ऊर्ध्वमुखी संकेंद्रण, उस दिव्य सत्ता और उसकी लीला के प्रति पूर्ण आत्मोद्‌घाटन जो सर्वत्र विद्यमान है एवं जिसकी उपस्थिति हमारे हृदयों में निरंतर बनी रहती है, और इन सबसे जो कुछ भी इतर हो उसका सम्पूर्ण रूप में परित्याग। यह आत्मोद्‌धाटन होना तभी संभव है जब हमारी श्रद्धा, अभीप्सा और समर्पण की भावना यथार्थ हों।"

दूसरे शब्दों में, श्री अरविन्द भागवत-चेतना को पार्थिव रूप प्राप्त करना चाहते थे। उनका अभीष्ट था विश्व की, विश्व की समस्त गतिविधियों की, दैवी विजय; विश्व के ही प्रांगण में दिव्यत्व की संसिद्धि। उनकी अपनी साधना और सिद्धि तो धरती की चेतना में अतिमानस के अवतरण का द्वार खोलने की एक कुंजी मात्र थी। इस महान कार्य में सहयोग देने के लिए उनके शिष्य व्यक्तिगत रूप से क्या करें? इस संदर्भ में साधना का अर्थ और भाव स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं:

"साधना का अर्थ है अपनी चेतना को ईश्वराभिमुख करना, उसे खोल देना, उसका वर्तमान अवस्था से चैतिक और आध्यात्मिक चेतना की अवस्था में परिवर्तन करना। पूर्णयोग में तो उसका अर्थ यह भी होता है कि अपनी सम्पूर्ण चेतना और कार्य प्रवृत्तियों को भगवान के प्रति समर्पित कर दें जिसमें

कि फिर इन पर उन्हीं का अधिकार हो, वे ही इनका उपयोग किया करें, और चेतना का रूपान्तर भी हो सके।"

एक अन्य प्रसंग में वे कहते हैं : "इन विषयों में पैठ पाने का सही रास्ता है मन को बिलकुल शान्त और स्थिर अवस्था में ले आना और फिर उस चेतना की ओर को उसे खोल देना जहां से सभी कुछ परिचालित होता है। ऐसा हो जाने पर पहले तुम्हें अनुभूति होगी कि दिव्य चेतना का कार्य विभिन्न स्तरों पर किस प्रकार होता है और बाद को इस अनुभूति के विषय में ज्ञान का आलोक भी प्राप्त होगा। यही एकमात्र सही रास्ता है; अन्य सब कोरा शब्द जाल है, मन और बुद्धि के वंध्या तर्क-वितर्क हैं।"

श्री अरविन्द अपने शिष्यों की साहित्यिक तथा अन्य प्रवृत्तियों में भी सहायता किया करते थे। उनके शक्ति-प्रभाव की चाँप पाकर इन लोगों की प्रसुप्त क्षमताएं फूट पड़ती थीं और जैसे कोई चमत्कार हो जाये, इस प्रकार ये लोग कुशल नाटककार, कवि, चित्रकार आदि के रूप में विकास कर उठते थे। श्री अरविन्द ने एक पत्र में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है : "कोई साधक जब अपनी साहित्यिक प्रतिभा को सचमुच ही विकसित करने का इच्छुक होता है तो मैं अपनी शक्ति का थोड़ा-सा सहारा दे देता हूं। उसमें यदि क्षमता और लगन होती है, भले ही क्षमता कितनी भी दबी हुई क्यों न हो, तो शक्ति की चाँप पाकर वह उभर उठती है और, इतना ही नहीं, एक विशेष दिशा तक ग्रहण कर लेती है।"

आगे उन्होंने बताया; "स्वभावतः इन लोगों में से कोई-कोई अधिक अनुकूल आधार प्रमाणित होते हैं इसलिए औरों की अपेक्षा इनका विकास जल्दी और सुनिश्चित रूप में हो जाता है, जब कि अन्य लोग लगन की कमी के कारण पीछे ही छुटे रह जाते हैं। पर सब मिलाकर साहित्यिक क्षमता को विकसित करना सरल ही रहता है, यदि हमारे पक्ष की ओर से पूरा सहयोग हो और जिस बाधा को दूर करना अपेक्षित हो वह केवल उसके मानसिक अप्रकाश और अप्रवृत्ति के तमस के कारण उपजी हुई हो। वास्तव में इस प्रकार के अवरोध उतने गंभीर हुआ ही नहीं करते जितने चाँप के

प्रति दूसरे पक्ष का आन्तरिक प्रतिरोध और इच्छा या विचारों के सहयोग-अभाव बना करते हैं।"

एक पत्र में श्री अरविन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार केवल लेखन ही नहीं, वास्तव में कोई भी काम योग बन सकता है। उन्होंने एक शिष्य को लिखा था: "तुम्हारा उद्देश्य यदि भगवान के निर्देश पर और भगवान के ही निमित्त लेखन-कार्य करने का है तब प्रयत्न यह होना चाहिए कि तुम जो भी लिखो वह विशुद्ध रूप से अन्तरात्मा का अनुलेखन हो और जहां यह अन्तःप्रेरणा मौन होती मिले वहां ध्यान इस बात का रखा जाये कि रचना का सम्पूर्ण रूप मूल भावना और उद्देश्य के अनुरूप उतर आये। काव्य-रचना, चित्रकारी और संगीत से लेकर बढ़ईगीरी, रसोईदारी और घर बुहारने-बटोरने तक का कोई भी काम जो भगवान के निमित्त किया जाये वह हर दृष्टि से सही और दोष-रहित भी होना चाहिए। इतना ही नहीं, उसकी मूल भावना भी सच्ची और हार्दिकतापूर्ण होनी चाहिए। ऐसा होगा तभी वह काम भगवान को अर्पित किये जाने योग्य भी बन सकेगा।"

वास्तव में काम को तो श्री अरविन्द के योग में साधना का एक अनिवार्य अंग माना गया है। एक बार उन्होंने कहा भी था: "जो लोग सच्चे मन से श्री मां के निमित्त काम करते हैं उनके लिए तो वह काम ही अभीष्ट चेतना को प्राप्त करने का साधन बन जाता है, भले ही वे ध्यान-चिन्तन में बैठते तक न हों या योग-साधन की दृष्टि से कुछ भी और न करते हों।"

इसी प्रसंग में एक अवसर पर किसी ने उनसे यहां तक पूछा था कि जिन लोगों ने समत्व और शान्ति भाव की अवस्था तो प्राप्त कर ली हो पर श्री मां के निमित्त कोई काम न करते हों, या करते भी हों तो नामचार के लिए, उनका दिव्य रूपान्तर हो सकेगा या नहीं? श्री अरविन्द का दो टूक उत्तर था: "नहीं, रूपान्तरण की उनके लिए बात ही नहीं उठती।"

पर जिस बात की शिष्यों से अपेक्षा की जाये उसका उदाहरण तो गुरू को स्वयं प्रस्तुत करना चाहिए! और इस विषय की श्री अरविन्द से सम्बन्धित एक रोचक घटना का उल्लेख एक दिन श्री मां ने किया:

"आवश्यक बात तो यह है कि ऋत चेतना को अपनी देह में ही धारण किये रहें, जरा भी भय किसी का न मानें, और दिव्य शान्ति के भाव से अपने को हर समय आपूर्ण रखें। फिर तो सचमुच किसी प्रकार के आशंका-भय रह ही नहीं जायेंगे, यहां तक कि मनुष्य या पशु द्वारा किये गये आक्रमणों को ही नहीं रोक दिया जा सकेगा बल्कि प्रकृति के प्रकोपों को भी वश में किया जा सकेगा। और इसका एक छोटा-सा उदाहरण मैं दूं :

"उस रात की तो याद होगी जब वह भयंकर तूफान आया था और सारे में आंधी-पानी और बवण्डर की हड़बड़ाहट भरी हुई थी। मैंने सोचा कि श्री अरविन्द के कमरे तक जाऊं और खिड़कियां आदि ठीक से बन्द करा आऊं। पर उनके कमरे के द्वार को खोलते ही देखा कि वह निर्विघ्न भाव से बैठे लिख रहे हैं, और ऐसी ठोस और अविचल शान्ति वहां व्याप्त है कि बाहर चलते उस भयंकर तूफान की किसी को कल्पना तक न होती। कमरे की एकोएक खिड़की खुली हुई थी : पर पानी की एक बूंद जो भीतर आ रही हो !"

श्री अरविन्द के पास साधकों और शिष्यों के हजारों पत्र आते थे जिनमें नाना प्रकार के प्रश्न रहा करते थे। कुछ का सम्बन्ध बाहरी बातों से होता था, कुछ का आन्तरिक विषयों से। कितने ही प्रश्न तो ऐसे होते कि चकरा दें, जिनसे पार ही न लेते बने। पर श्री अरविन्द सभी पत्रों का समुचित उत्तर देते थे : किसी का लिखकर तो किसी का आभ्यन्तरिक रूप में। और प्रत्येक उत्तर के साथ साधक के रूपान्तरण में सहारे के लिए उनकी अपनी शक्ति का संस्पर्श भी पहुंचा करता था। उनके दिये हुए कुछ पत्रों के उत्तर नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :

एक शिष्य को अपना काम करने में बहुत थकान हो जाने की बात पर उन्होंने लिखा : "काम के विषय में तुम केवल उस समय सोचा करो जब करने बैठो : न उससे पहले न बाद को ही। और जितना काम पूरा कर चुको उसकी ओर अपने ध्यान को लौट-लौटकर कभी मत जाने दो। तुम्हारे काम का उतना भाग अब विगत का हुआ : उसे ही सोचते-संवारते बैठे

रहना अपनी शक्ति का क्षय करना होगा। इसी प्रकार से जिस काम को अभी हाथ में लेना न हो उसके बारे में भी सोचा-विचारी में मत पड़ो। उसका समय जब आयेगा तब जो शक्ति काम करती है वह अपने आप देख लेगी।

"वास्तव में मन के ये दोनों स्वभाव उसकी क्रिया-प्रक्रिया के एक बीते अतीत का अवशेष हैं। रूपान्तरकारी शक्ति इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रही है, पर स्थूल मन इन्हें बनाये रखने में लगा हुआ है। तुम्हारी सारी थकान और क्लान्ति का मूल कारण यही स्थिति है। तुम यदि केवल इतना ध्यान रख सको कि मन को काम करने के समय ही सक्रिय होने दो तो थकान कम होगी और फिर धीरे-धीरे हुआ ही नहीं करेगी। सच तो, तुम्हारी वर्तमान स्थिति संक्रमण की अवस्था है : उस भावी स्थिति से पूर्व की अवस्था जब अतिमानसी शक्ति स्थूल मन की सम्पूर्ण गति और चालना को अधिकार में लेकर उसमें दिव्य ज्योति की स्वतःस्फूर्त क्रियाशक्ति को प्रविष्ट कर देगी।"

एक अन्य शिष्य को मन की बुरी वृत्तियों से छुटकारा पाने में कठिनाई हो रही थी। उसने श्री अरविन्द से सहायता के लिए निवेदन किया तो उन्होंने उपाय सुझाते हुए लिखा : "तुम्हारी भूल यह हो रही जान पड़ती है कि तुमने उन वृत्तियों के साथ एक गहरा तादात्म्य बना लिया है। तुम उन्हें अपनी प्रकृति का ही अंग समझने लगे हो। ऐसा न करके तुम्हें चाहिए कि उनसे बचो, उनसे सम्बन्ध तोड़ो, और अपने को विलग कर लो। इन वृत्तियों को तुम निम्नतर, अपूर्ण और अशुद्ध विश्व प्रकृति के सहज क्रिया-व्यापार के रूप में देखो, जो तुम्हारे भीतर प्रवेश करके तुम्हें अपनी अभिव्यक्ति का साधन बना लेने की चेष्टा में लगी रहती हैं।

"इन वृत्तियों से अपने को विलग और असम्पृक्त कर लेने पर तुम्हारे लिए फिर यह भी साध्य हो चलेगा कि स्वयं अपने को जान सको और अपने ही भीतर के एक प्रान्त भाग में, अपनी अन्तरात्मा में, अपने चैत्यपुरुष के सान्निध्य में अधिकाधिक अवस्थित रह सको। यही अपने भीतर का

एकमात्र प्रदेश होता है जहां मन की उन वृत्तियों का न प्रवेश हो पाता है न कोई प्रभाव। ये उसके लिए नितान्त 'अन्य' और विजातीय हुआ करती हैं और इसलिए आपसे आप नकार दी जाती हैं। अन्तरात्मा तो सदा इनकी ओर से स्वतः मुंह फेरे हुए चेतना के उच्चतर स्तरों के प्रति, स्वयं भागवत सत्ता के प्रति, उन्मुख और संलग्न रहा करता है। तुम अपने भीतर के उसी प्रान्तभाग को देखो-खोजो और वहीं अपने को स्थिर करो। यह कर लेना ही तो पूर्णयोग का सच्चा आधार बनता है।"

किसी और शिष्य ने जानना चाहा कि विरोधी शक्तियों की वास्तव में क्या भूमिका होती है और क्यों इन्हें साधकों के मार्ग में कठिनाइयां उत्पन्न करने दिया जाता है। श्री अरविन्द ने इन्हें बताया : "विरोधी शक्तियों का अपने लिए स्वयं चुना हुआ एक विशेष कार्य होता है। ये शक्तियां ही परखा करती हैं कि किसी व्यक्ति की, साधना-कार्य की, स्वयं पृथ्वीलोक की, वस्तुस्थिति क्या है और किस सीमा तक आध्यात्मिकता के अवतरण तथा पूर्णता लाभ की दृष्टि से इनकी तैयारी हो चुकी है। यात्रा के एक-एक पग पर ये अपने पूरे वेग से आक्रमण किया करती हैं और निरन्तर छिद्रान्वेषण करके सुझाव-बुझाव देकर, कभी हताशा या विद्रोह, तो कभी अविश्वास ही जगाकर ये राह में बाधाओं के अम्बार लगाया करती हैं।

"इसमें तो सन्देह नहीं कि अपने कार्य के आधार पर जितना जो अधिकार इन शक्तियों का होता है उसे ये अतिरंजित रूप में ही प्रकट किया करती हैं और यों बड़े सहज में राई के पर्वत तक बना डालती हैं। जरा कहीं दांव चूका या मामूली-सी ही कोई भूल हुई कि ये उसी क्षण पहुंचकर एक हिमालय ही आगे खड़ा कर देती हैं। मगर ये विरोध-बाधाएं तो जैसे सनातन हैं और, सच में, इनका उद्देश्य भी हमारी जांच-परख या हमारे सत्य की परीक्षा करना मात्र नहीं हुआ करता बल्कि हमारे ऊपर इस बात की बाध्यता लाना होता है कि हम अधिक शक्ति, पूर्णतर आत्मज्ञान, सूक्ष्मतर शुचिता, तीव्रतर अभीप्सा, दृढ़तर अदम्यता, और भगवत्कृपा के बृहत्तर अवतरण की कामना और संप्राप्ति करें।"

श्री अरविन्द ने एक साधक को एक बड़ी महत्वपूर्ण चेतावनी भी दी थी। उन्होंने लिखा था : "मानसिक निष्क्रियता अच्छी होती है, पर इस बात का ध्यान रखो कि केवल ऋषि और भागवत शक्ति के संस्पर्श के आगे ही निष्क्रिय हुए रहना है। तुमने यदि कहीं अपरा प्रकृति के सुझावों-बुझावों और प्रभावों के आगे अपने को निष्क्रिय रखा तो साधना में प्रगति नहीं कर सकोगे, या फिर विरोधी शक्तियों के हाथों में बिलकुल अरक्षित रह जाओगे; और ये विरोधी शक्तियां तो तुम्हें यथार्थ योग के मार्ग से दूर कहीं का कहीं ले जायेंगी।"

एक साधक को स्थिरता, शान्ति और समर्पण भाव की साधना में यों तो सफलता मिली थी पर अपना काम-धन्धा करते समय इस भाव को बनाये रखना उसे कठिन पड़ता था। श्री अरविन्द से अपनी कठिनाई निवेदन की तो उन्हें उत्तर मिला : "साधना का सच्चा आधार तुम्हें अन्ततः मिल गया। स्थिरता, शान्ति और समर्पण भाव की यह अवस्था ही वास्तव में उस अभीष्ट वातावरण को जन्म दिया करती है जहां पहुंचकर ज्ञान, शक्ति और आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। इस भावावस्था में पूर्णता आने दो।

"काम-धन्धा करते समय इस अवस्था के न बने रहने का कारण इतना ही है कि यह अभी मन की ही परिधि तक सीमित है और मन को भी यह नया ही नया उपहार मिला है। जब नयी चेतना अपना पूर्ण रस ग्रहण कर लेगी और तुम्हारी अन्नमय सत्ता और प्राणमय प्रकृति दोनों पर उसका अधिकार भी हो जायेगा, तब यह दोष और कमी नहीं रहेंगे। अभी तो तुम्हारे प्राणलोक को इस शान्ति और स्थिरता की अवस्था ने छुआ ही है, प्रभावित भर किया है, अपने पूरे अधिकार में नहीं लिया है।"

"शान्ति भाव की जो यह अचंचल चेतना तुम्हें मन में अनुभव होती है, इसके और अधिक स्थिर होने की ही आवश्यकता नहीं है, व्यापक होने की भी है। सच तो अभीष्ट यह है कि तुम सब कहीं उसी अवस्था को अनुभव करो, एक भी क्षण न हो जब तुम उस अवस्था में न हो और उसी

में सब कुछ समाया हुआ न हो। यह अवस्था प्राप्त कर लेने पर तुम्हें अपने कार्य-कर्म में भी आधार के रूप में इस शान्ति और स्थिरता को लाना सुविधा का होगा।

"जितनी ही अधिक व्यापक और विस्तृत यह चेतना होगी उतना ही अधिक तुम ऊपर से ग्रहण करने में समर्थ होगे। दैवी शक्ति का तब अवतरण हो सकेगा और उससे तुम में बल और तेज का संचार होगा। अभी जो अपने में तुम्हें यह सीमित-सीमित और संकीर्ण-सा अनुभव होता है वह वास्तव में स्थूल मन है, उसमें विस्तार तभी आ सकेगा जब इस व्यापक चेतना का अवरोहण हो और तुम्हारी सम्पूर्ण प्रकृति को यह अपने अधिकार में कर ले।

"इस समय जो शारीरिक अक्रियता तुम्हें उठानी पड़ रही है उसका कम होना और फिर दूर हो जाना भी उसी अवस्था में सम्भव है जब ऊपर से बल और तेज शरीर में प्रवेश करें। तुम मौन और अविचल रहते हुए अपने को भगवान की ओर को खोल दो और भागवत शक्ति को पुकारो कि जो शान्ति भाव और स्थिरता की अनुभूति तुम्हें हुई है उसमें दृढ़ता आये, तुम्हारी चेतना अधिकाधिक व्यापक हो, और उसमें इतना-इतना बल और तेज प्रवेश कर जाये कि जितना समा सके और आत्मसात हो पाये।

"इसका ध्यान अवश्य रहे कि बहुत उतावली कभी न की जाये। उसमें जोखिम है कि निश्चलता और सन्तुलन का जो भाव प्राणलोक के स्तर पर आया है वही न कहीं विक्षुब्ध हो उठे। तुम परिणाम के प्रति अपनी ओर से पूरी आस्था रखो और भागवत शक्ति को अपना कार्य यथासमय करने दो।"

एक शिष्य से किसी तरह कोई नियम भंग हो गया था। उसने मार्जन के लिए श्री अरविन्द से निर्देश मांगा। श्री अरविन्द ने सच्चे प्रायश्चित का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उत्तर दिया : "तुमने पूछा है कि जो अनुचित कार्य तुम्हें अपने से हुआ जान पड़ता है उसका मार्जन कैसे करो। तुम जिस प्रकार यह अनौचित्य हुआ बताते हो उसे ही यदि मान लें तो मेरे विचार

से मार्जन का सही रूप यह होगा कि तुम अपने को अब यथार्थ में भागवत सत्य और भागवत प्रेम का पात्र बनाओ। इसके प्रथम चरण होंगे : पूर्ण आत्मनिवेदन और आत्मशुद्धि, पूर्ण आत्मोद्घाटन और अपने अन्दर के उस सबका पूर्ण परित्याग जो इसमें बाधक बने।

"आध्यात्मिक जीवन में इसे छोड़ अन्य किसी प्रकार से दोष का मार्जन न होगा, ऐसा उपाय तो कोई है ही नहीं जो पूरी तरह कारगर हो जाये। प्रारम्भ में तो आन्तरिक विकास और परिवर्तन से भिन्न किसी अन्य फल अथवा परिणाम की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उस स्थिति में हो सकता है कि हम अपने को भारी निराशा का ही भागी बना बैठें।"

श्री अरविन्द ने अपने को कभी किसी पर आरोपित नहीं किया, पर मार्गदर्शन वे फिर भी सभी का किया करते थे। आगे दिया हुआ पत्र इसी को प्रतीकित करता है, जो उन्होंने विवाह के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक शिष्य को लिखा था : "निर्भर सब कुछ तुम्हारे अपने विचार-आदर्श पर ही करेगा। तुम यदि देह और इन्द्रियों के सुख-भोगों का जीवन जीना चाहते हो तो कहीं भी अपने लिए साथी चुन सकते हो। यदि तुम्हारा आदर्श इससे कुछ ऊंचा है, अर्थात अच्छा चित्रकार या गायक या देशसेवी बनने का है, तब जीवन-साथी की चाहना को मात्र इच्छा और रुचि की बात मत बनाओ। उसका निर्णय इससे ऊंचे स्तर पर होने दो। उस दशा में यह आवश्यक होगा कि जो स्त्री चुनी जाये उसका तुम्हारी जीवन सत्ता के चैत्यांश के साथ पूरा मेल हो। पर तुम्हारा आदर्श यदि जीवन को आध्यात्मिक बनाने का है तब तो विवाह करने से पूर्व तुम्हें सौ बार सोचना होगा। सारी बात अब तुम्हारे सामने है : निर्णय तुम स्वयं करो।"

साधक लोग ज्यों-ज्यों अपनी साधना में आगे बढ़ते जाते थे, उन्हें अपने-अपने स्वभाव के असंस्कृत तत्वों का बोध होता जाता था। विभिन्न देशों में जनमे और विभिन्न धार्मिक मान्यताओं में पले होने के कारण उनके स्वभाव भी विभिन्न हुआ करते थे। हरेक की अपनी कुछ विशेष क्षमताएं होती थीं और विशेष ही कठिनाइयां। प्रत्यक्ष था कि इन्हें व्यक्तिगत स्तर

पर ही समझना और सुलझाना हुआ करता था। एक साधक ने अपनी सहज इच्छाओं पर काबू पाने के लिए उपवास करना चाहा, पर सफल न हो सका। बात श्री अरविन्द के आगे रखी गयी। उनका उत्तर आया : "शरीर और मन की जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, वे सब तुम्हारी अपनी सत्ता से इतर और विजातीय हैं। ये बाहर से आकर अन्दर प्रवेश करती हैं, तुम्हारी अन्तरात्मा के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं। इनका उद्गम अन्तरात्मा से नहीं होता, ये तो बाह्य प्रकृति की तरंग मात्र होती हैं।

"इस प्रकार, सभी इच्छाएं बाहर से प्रवेश करती हैं और अवचेतन तक पैठकर फिर ऊपर के धरातल पर आती हैं। यहां पहुंच जाने के बाद ही मन को इनका भान होता है और इच्छा के रूप में इनसे हम भी अवगत होते हैं। प्रत्येक इच्छा हमें बिलकुल अपनी ही जान पड़ती है, क्योंकि हम उसे मनोदेश में भीतर से आया हुआ समझते हैं और यह जानते ही नहीं होते कि वह तो बाहर से आयी थी। वास्तव में मन का, हमारी सम्पूर्ण प्राणसत्ता का, इच्छाओं से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, जो मद्भाव-सा उत्पन्न हो आता है वह केवल हमारे इस स्वभाव के कारण कि बाह्य प्रकृति के धरातल से उठ-उठकर आती हुई भाव-तरंगों के प्रति हम अनुक्रियाशील हो जाया करते हैं।"

एक शिष्य ने पूछा : "आपने क को जो लिखा वह मुझे भी देखने को मिला। मैं सोच में हूं कि वही क्या मुझ पर भी लागू नहीं होता?" श्री अरविन्द ने उत्तर दिया : "ज़ो क के लिए लिखा वह तुम्हारे लिए नहीं है। क ने चित्त-वृत्तियों की उस अवस्था को प्राप्त कर लिया है जब अध्ययन करना आवश्यक नहीं रहता, उल्टे एक व्याघात बनने लगता है। तुम्हारे अध्ययन करने में आपत्ति नहीं है, यदि उससे ध्यान-चिन्तना में बाधा न आती हो।"

इसी साधक ने फिर एक अवसर पर श्री अरविन्द को लिखा : "मुझे अन्दर से ही एक चाव और दबाव जैसा अनुभव हो रहा है कि कविता-कहानी, सभी कुछ, बांग्ला में लिखूं। मैं सचमुच लिखना भी चाहता हूं।"

श्री अरविन्द ने उत्तर में कहा : "इस प्रकार की महत्वाकांक्षाएं प्रायः इतनी अस्पष्ट हुआ करती हैं कि सफल होने में नहीं आतीं। सफल बनाने के लिए इनके क्षेत्र को सीमाओं में बांधना होगा और उनके अन्तर्गत ही फिर अपने को भी संकेन्द्रित करना होगा।"

"मैंने ही कभी वैज्ञानिक या चित्रकार या सेनानायक बनने का प्रयत्न नहीं किया। मेरे लिए तो और-और ही काम थे जिन्हें, भगवान की जब तक इच्छा रही, मैंने किया। कई और काम, ऊपर से या योग-साधना के दौरान भीतर से, उद्घाटित हुए। इन्हें भी, भगवान की इच्छानुसार, मैंने किया है। क मैं जब-जब और जितनी भी क्रियात्मक ऊर्जा आयी, वह उसके अनुसार कार्य करने में जुट गये। तुम केवल मन ही मन कथा करते हो, विचार-विवेचना में उलझे रहते हो, और आगा-पीछा ही सोचते रह जाते हो।"

"वास्तव में आध्यात्मिकता और सर्जनात्मक क्रियाशीलता में परस्पर असंगति नहीं हुआ करती। दोनों का संयोजन किया जा सकता है। कार्य करने के प्रगति-क्रम में चल-विचलता आती ही है, और इसलिए सफलता में भी। ऐसी अवस्था में हम एक को या दूसरे को अपनायेंगे, या दोनों को ही अपनाये रहेंगे। उस चल-विचलता या अस्थिरता में ही अटके तो नहीं पड़े रहेंगे।"

बीमारियों के सन्दर्भ में तो श्री अरविन्द से अकसर ही पूछा जाता था। एक शिष्य ने जानना चाहा : "क्या योग के द्वारा सभी बीमारियों का इलाज किया जा सकता है ?" श्री अरविन्द ने उत्तर दिया : "निस्सन्देह; मैं कर सकता हूं। पर उसके लिए आस्था भाव की या खुले होने की, या दोनों ही बातों की, आवश्यकता होती है। भाग्य में हो तो कैंसर जैसा असाध्य रोग तक मनोप्रेरण मात्र से दूर किया जा सकता है। उस एक स्त्री का जैसे हुआ। उसका ऑपरेशन करना बेकार रहा था, डॉक्टर लोग झूठमूठ ही कहते रहे थे कि वे लोग सफल हुए थे। मनोप्रेरण से उसके कैंसर के तमाम लक्षण जाते रहे थे और फिर वर्षों बाद उसकी मृत्यु किसी और ही रोग से हुई।"

यह शिष्य स्वयं भी डॉक्टर थे और एक रोगी पर श्री अरविन्द की शक्ति को कार्य करते हुए देख रहे थे। इन्होंने श्री अरविन्द को लिखा : "हम सभी लोग ऐसा मानते हैं कि आप ज्यों ही हमारे पत्रों को पढ़ना शुरू करते हैं, हमें आवश्यक सहायता मिल जाती है। कल मैं जब उनके पास उनकी आंखों का उपचार करने पहुंचा तब उन्होंने ऐसा अनुभव होता बताया कि जैसे भीतर से आपकी शक्ति काम कर रही हो। उनका अनुमान था कि उस समय आप उन्हीं का पत्र पढ़ रहे थे।"

उत्तर में श्री अरविन्द ने लिखा : "यह सब इस पर निर्भर करता है कि किसी की अन्तरात्मा कितनी जाग्रत है, जाग्रत न होने पर बाह्य अवलम्बन अपेक्षित होता है। यही बात है जो कुछ लोगों को कष्ट का शमन होना उस समय अनुभव होता है जब उनका पत्र पढ़ा जाता है। कुछ को लिखने के तत्काल बाद या पत्र के यहां पहुंचने से पूर्व, या फिर उसके यहां पहुंचने के बाद पर पढ़े जाने से पूर्व; जबकि कुछ लोगों के लिए तो हमसे कष्ट का मनसा उल्लेख भर कर देना काफी रहता है।"

इन डॉक्टर महोदय ने फिर पूछा : "आपने कहा है कि बीमारियों का ज्ञान उनके शरीर में प्रवेश करने से पहले भी हो सकता है। तब क्या उसी समय रोककर उनसे पूरी उन्मुक्ति भी ली जा सकती है ?" श्री अरविन्द ने उत्तर दिया : "बीमारियों को अन्नमय शरीर तक पहुंचने से पहले सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीर से गुजरना होता है। यदि कोई इनके प्रति सचेत है तो बीमारी का आगे जाना रोककर अन्नमय शरीर में उसके प्रवेश को बाधित कर सकता है। लेकिन कभी-कभी बीमारी का प्रवेश अनजाने या सोते में, अथवा अवचेतन के मार्ग से या असावधानी के क्षणों में एकदम से हो जाता है। उस समय इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं होता कि शरीर के स्तर पर आये हुए उसके प्रभाव को संघर्ष करके हटायें।

"आन्तरिक उपायों द्वारा संजोया हुआ आत्मरक्षण इतना सबल और सुदृढ़ हो सकता है कि शरीर को बीमारियों से उन्मुक्तता मिल जाये। अनेक योगियों को प्राप्त हुई है। पर वह पूर्ण उन्मुक्तता नहीं होती। पूर्ण

उन्मुक्तता तो अतिमानसी रूपान्तर होने पर ही मिल सकती है। क्योंकि अतिमानस से नीचे के स्तर पर जो सन्तुलन आता है वह कई शक्ति तत्वों में से किसी एक की ही क्रिया का परिणाम होता है और इसलिए जरा-सा भी क्रम-भंग उसमें बाधा पहुंचा सकता है। अतिमानसी अवस्था का संतुलन स्वयं प्रकृति का एक नियम होता है। फलतः शरीर को बीमारियों से उन्मुक्तता स्वतः प्राप्त रहा करती है। वह शरीर की नयी प्रकृति का एक अन्तर्निहित धर्म होती है।"

किसी ने श्री अरविन्द को बताया : "लगता है लोग अब पहले की अपेक्षा डॉक्टरों और दवाइयों पर अधिक निर्भर रहने लगे हैं।" श्री अरविन्द इस पर बोले : "जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण नाना प्रकार के ऐसे प्रभाव अस्तित्व में आ गये हैं जो पहले न थे जब यह वृत्त छोटा था। जब तक आस्था प्रमुख रही और केवल सहारे के लिए थोड़े बहुत उपचार किये जाते रहे, डॉक्टरों का महत्व नहीं था। पर जब आस्था का लोप हुआ तो बीमारियों में बाढ़ आयी और फिर तो डॉक्टर लोग उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य बन उठे। एक कारण साधना का भौतिक चेतना में अवरोहण करना भी हुआ, क्योंकि उसके साथ शंका-सन्देह, अस्पष्टता और प्रतिरोध के भाव भी लगे हुए थे। अब तो इन सबको दूर कर पाना सम्भव भी नहीं रहा।"

श्री अरविन्द साधकों को सदा प्रोत्साहित किया करते थे कि वे लोग अपने आत्मप्रेक्षण से उन्हें अवगत रखा करें। उन्होंने लिखा है : "तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि स्वयं सचेतन बनो और अपने आत्मप्रेक्षण को हमारी जानकारी में लाते रहो। उसी के आधार पर तो हम कुछ करेंगे भी। एक बात निस्संदिग्ध है और सैकड़ों उदाहरण उसका प्रमाण हैं कि आप में से बहुतों के लिए अपनी कठिनाई हमें ठीक-ठीक बता देना अच्छा रहेगा, और सदा तो नहीं पर प्रायः, वही उससे उबार पाने का प्रत्यक्ष और तत्काल उपलब्ध उपाय भी होगा।"

एक शिष्य की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए किया गया

शक्ति-संघात उससे झेलते न बना और गुरुदेव को उसे ढाढ़स बंधाना पड़ा। उन्होंने लिखा : "हमें खेद है तुम्हें इतना कष्ट हुआ। पर श्री मां ने अपनी शक्ति की जो चाँप दी थी वह तुम्हें कष्ट पहुंचाने के लिए नहीं थी, उससे विमुक्त करने के लिए थी।"

एक अन्य शिष्य को उन्होंने लिखा : "तुम यह जो कुछ देखते हो, बहुतकर उसी क्रिया का द्योतक है जो भीतर कार्य कर रही है। आश्वस्त रहो, ऐसी बात नहीं है कि यह सब निरा दृश्याभास होकर रह जायेगा और तुम्हारी आन्तरिक चेतना पर इसका प्रभाव नहीं आयेगा। तुम्हारी चेतना तो अब भी बहुत बदल गयी है, पर जितना परिवर्तन आने वाला है उसका इसे प्रारम्भ ही समझो।"

शिष्यों का मार्गदर्शन श्री अरविन्द किस प्रकार करते थे इसकी झलक देते हुए उन्होंने लिखा है : "मैं कभी किसी का ध्यान उसके दोषों की ओर नहीं दिलाता जब तक कि वह आप मुझे उसका अवसर न दे। साधक को चाहिए कि वह स्वयं सचेतन बने और, भागवत ज्योति के प्रकाश में अपने को निरावृत रखकर, सब कुछ स्वयं देखे-समझे, जो अभीष्ट न हो उसका परित्याग कर दे, और अपना परिवर्तन होने दे। मार्गदर्शन की वह विधि सही नहीं कि बात-बात में हस्तक्षेप करें, हर समय उपदेश-निर्देश दिये जायें, और कभी इस बात का ध्यान दिलायें कभी उसका। यह तो स्कूल मास्टर की पद्धति हुई; जहां आध्यात्मिक परिवर्तन लाना हो वहां इससे काम नहीं चलेगा।"

श्री अरविन्द के योग का एक बड़ा महत्वपूर्ण पक्ष ब्रह्मचर्य है। यहां उनके कुछ पत्रांश उद्धृत किये जा रहे हैं जिनका सम्बन्ध कामकेन्द्र के रूपान्तर से है। उन्होंने लिखा है : "कामकेन्द्र और उसकी ऊर्जा का रूपान्तर भौतिक सिद्धि के लिए आवश्यक है। क्योंकि शरीर में वही प्रकृति के मानसिक, प्राणिक और भौतिक शक्ति तत्वों का आधार बनता है। अभीष्ट यह होता है कि उसे प्रगाढ़ तेज, सर्जनशील शक्ति और शुद्ध दिव्यानन्द के पुंज और गतिमत्ता में परिवर्तित कर लिया जाये। और यह परिवर्तन

तो तभी सम्भव हो सकता है जब अतिमानसी ज्योति, शक्ति और आनन्द को उतारकर उस केन्द्र में लाया जाये।

"आगे किस प्रकार क्या होगा, इसका निर्धारण अतिमानसी सत्य, सृजनात्मक दृष्टि-उद्भावना और स्वयं चित्शक्ति की इच्छा के अधीन होगा। पर वह सारी गति क्रिया होगी सचेतन सत्य की, कामेषणा और विषय-सुखों के तमस् और अज्ञान की नहीं। वह तो प्राणसत्व के परिरक्षण और उसके अबाध और निरिच्छ विकिरण की शक्ति होगी, उसे बाहर फेंक देने और नष्ट करने की नहीं। इस मिथ्या कल्पना से अवश्य बचना है कि अतिमानसी जीवन तो कायिक और प्राणिक इच्छाओं की परितृप्ति का एक समुन्नत रूप मात्र होगा। सच तो, मानव में निहित पशुत्व के महिमायन की इस प्रत्याशा से बढ़कर अवरोध अतिमानस के अवरोहण में और न होगा।

"मन की चाहना होती है कि अतिमानसी अवस्था उसकी अपनी सोची-संजोयी हुई विचार-कल्पनाओं और पूर्वधारणाओं की सम्पुष्टि करे; प्राणतत्त्व की अपेक्षा होती है कि वह उसकी इच्छाओं और भावनाओं को गौरवान्वित करे; और देह यह चाहा करती है कि वह उसके अपने ही सुख-साधनों, भोगोपभोगों, और चिर अभ्यासों का एक भरा-पूरा विस्तार हो। वास्तव में अतिमानसी अवस्था को यदि ऐसा कुछ भी होना होता तो वह मानवी और पाशवी प्रकृति की एक अनुरंजित और अत्यन्त आवर्धित परिपूर्ति मात्र होती, मानवता से दिव्यता की ओर संक्रमण की अवस्था नहीं।

"प्राणायाम और आसन आदि के द्वारा कामभाव का निर्मूलन हो ही जाये, यह आवश्यक नहीं। कभी-कभी तो इनके द्वारा शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि होने से कामवृत्ति का ही वेग हठात् भड़क उठता है; और क्योंकि वही सारे भौतिक जीवन का आधार भी होता है इसलिए उस पर विजय पाना भी कठिन पड़ता है। वास्तव में करने की बात एक यही है कि इन वृत्तियों-प्रवृत्तियों से अपने को विलग कर लें, और अपनी आन्तरिक सत्ता को खोजें-जानें और उसी में अवस्थित हो रहें। फिर तो ये वृत्तियां अपने से

सम्बद्ध ही नहीं जान पड़ेंगी, बल्कि ऐसी लगेंगी मानों अन्तरात्मा या पुरुष के ऊपर बाह्य प्रकृति ने बाहर से आरोपित कर दी हों। उस समय बड़ी सरलता के साथ इन्हें छांटकर अलग कर दिया जा सकता है और इतना नक कर दिया जा सकता है कि ये हुई-न-हुई जैसी हो जायें।

निद्रा और स्वप्नों के विषय में भी श्री अरविन्द का मार्ग दर्शन बड़ा प्रकाश और प्रबोध-पूर्ण है। उन्होंने लिखा है: "यदि कोई समझना और अर्थ लगाना सीख जाये तो स्वप्नों के द्वारा स्वयं अपनी और बाहरी प्रकृति के रहस्यों का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"

दर्शन के समय श्री गुरू कैसे सम्प्रेषण करते हैं? श्री अरविन्द ने इस सम्बन्ध में समझाते हुए श्री मां के विषय में बताया: "वे तो दोनों प्रकार से देती हैं। नेत्रों के द्वारा दिया हुआ चैत्य पुरुष के लिए होता है, हाथों के द्वारा दिया हुआ भौतिक के लिए।" श्री मां सभी शिष्यों को जब वे प्रणाम निवेदन करने जाते तो प्रसाद में फूल दिया करती थीं। उन्होंने 400 प्रकार के फूलों में से प्रत्येक को एक-एक विशेष आध्यात्मिक अर्थ और महत्व दिया हुआ है। श्री मां के इस प्रकार फूल देने के अन्तर्निहित अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने बताया: "फूल देने का तात्पर्य यह होता है कि उस आध्यात्मिक विशेषता को प्राप्त करने में सहायता हो जिसका वह फूल प्रतीक है।"

स्वयं श्री मां ने शिष्यों के साथ अपने सम्बन्ध-भाव के विषय में कहा है: "तुम्हारे और मेरे बीच, मेरे और उन सभी के बीच जिन्होंने श्री अरविन्द का और मेरे वचनोपदेशों का सहारा लिया है, एक विशेष वैयक्तिक सम्बन्ध है। और यह अच्छी तरह सब को ज्ञात है कि देशगत दूरियां इस सम्बन्ध को प्रभावित नहीं करतीं। कोई फ्रांस में हो चाहे धरती के दूसरे छोर पर या यहीं पॉण्डिचेरी में: वह सम्बन्ध सदा सत्य और जीवन्त रूप में बना रहता है। जिन्हें मैंने शिष्य के रूप में स्वीकार किया है, जिनके प्रति मैंने हामी भरी है, उनके साथ यह सम्बन्ध, सम्बन्ध भर नहीं, कुछ अधिक भी है: वहां मेरा अपना एक संप्रेषित अंश भी रहता है। वास्तव में तो मैं सभी के

लिए, हर एक के लिए, अपने को उत्तरदायी मानती हूं; हां उन तक के लिए जिन्हें मैंने जीवन में एक क्षण को ही देखा है।"

एक अन्य सन्दर्भ में श्री मां ने कहा : "पूर्ण अधिकार की स्थिति का अर्थ होता है यह ज्ञान प्राप्त हो जाना कि अमुक-अमुक स्पन्दनों के होने की अवस्था में किस प्रकार क्या करें। उदाहरण के लिए किसी एक वृत्ति को ही लें। यहां पूर्ण अधिकार भाव का अर्थ यह होगा कि बिना एक शब्द बोले, बिना जरा भी बताये-समझाये, केवल मात्र अपनी उपस्थिति से बुरे स्पन्दन को हटाकर उसके स्थान पर ऋत स्पन्दन को प्रतिष्ठित कर सकें। शब्दों के द्वारा, स्पष्टीकरण और विवेचना के द्वारा, यहां तक कि अपनी शक्ति के एक सूक्ष्म निस्सरण के द्वारा, दूसरे पर अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव ही आरोपित करेंगे, उस वृत्ति पर पूर्ण अधिकार नहीं कर सकेंगे। वास्तव में किसी वृत्ति पर पूर्ण अधिकार होने का अर्थ है इस बात की सक्षमता होना कि उस वृत्ति के वर्तमान स्पन्दनों का सामना करने के लिए उनसे अधिक शक्तिशाली और शुद्ध स्पन्दनों को आगे ला सकें जो उनका निवारण ही कर दें।

"किसी बात को स्पष्ट करने के लिए यदि शब्दों की ही आवश्यकता होती है तो मान लेना चाहिए कि अभी सही और पूरा ज्ञान नहीं है। अपना कथ्य तुम्हें हृदयंगम करा सकूं इसके लिए मुझे यदि शब्दों की, बोलने की सहायता लेनी होती है तो मुझे पूर्ण अधिकार की स्थिति अभी प्राप्त नहीं हुई है। मैं तो केवल तुम्हारी अपनी बुद्धि-शक्ति पर एक हल्का-सा प्रभाव भर लाती हूं और तुम्हें स्वयं समझ सकने के लिए एक सहारा देती हूं, तुम्हारे भीतर इस इच्छा को जाग्रत करती हूं कि तुम आप ही सब कुछ जानो-समझो और अपने को संयमित करो। यदि मैं यह नहीं कर सकती कि मात्र तुम्हारी ओर देखकर, मुंह से एक शब्द भी बोले बिना, तुम्हें उस दिव्य प्रकाश के लोक में प्रविष्ट करा सकूं जहां पहुंचकर तुम स्वयं सब कुछ जान-बूझ सको, तब अज्ञान की अवस्था से मैं ही अभी पारगता नहीं हूं।"

15. श्री अरविन्द द्वारा प्रणीत कृतियां

श्री अरविन्द के समस्त लेखन का पर्यवेक्षण करें तो उसके स्वरूप के तीन पक्ष समान रूप से उभरकर सामने आते हैं। ये हैं: अंग्रेजी भाषा पर उनका अद्‌भुत अधिकार, जनवरी 1908 के बाद से ही सुशान्त और नीरव चित्त के माध्यम से अन्तःप्रेरण, और प्रत्येक विषय के प्रति उनका एक आध्यात्मिक और समग्रतायुक्त दृष्टिकोण। जहां तक विषय-वैविध्य की बात है, उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को प्रमाणित किया है कि जो योगी है वह किसी भी विषय को हाथ में ले सकता है। श्री अरविन्द ने जो भी लिखा है, उसका विषय राजनीतिक हो चाहे आध्यात्मिक, वह गद्य की किसी विधा में लिखा हो चाहे काव्य में या छन्दों में, वह निरन्तर प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

वे स्वयं कहते हैं: "जो योगी लिखता है वह साहित्यिक व्यक्ति नहीं होता। उसकी तो लेखनी से केवल वही निकलता है जो उसकी अन्तरात्मा की ही इच्छा और वाणी हो।" और श्री अरविन्द के लेखन के बारे में तो यह निस्संदिग्ध रूप से कहा ही जा सकता है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है: "योग में तो सभी कुछ सम्भव है। मुझे ही दार्शनिक माना जाता है, जब कि मैंने दर्शनशास्त्र का कभी कोई अध्ययन नहीं किया। मैंने तो जो भी लिखा है वह एकमात्र योगानुभूति, अन्तर्ज्ञान और अन्तप्रेरण की देन है। और यही बात इधर-इधर के काल की मेरी काव्यकला विषयक असाधारण क्षमता और सर्वथा अदोष भाषाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी माननी होगी। औरों का पढ़-पढ़कर कि किसने क्या और कैसे लिखा, यह नहीं हुआ; यह तो मेरी अन्तश्चेतना के उन्नत होने और उस अवस्था में मुझे हुए अन्तः-प्रेरण का ही परिणाम है।"

श्री अरविन्द के राजनीति विषयक प्रारम्भिक लेखों और भाषणों के अन्तर्गत आते हैं: 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' जो 1893 में 'इन्दुप्रकाश' में प्रकाशित हुआ: 'भवानी मन्दिर स्कीम'; 1906 से 1908 के बीच 'वन्देमातरम्' में आये सौ से अधिक सम्पादकीय; 1909 से 1910 के बीच 'धर्म ऐण्ड कर्मयोगिन्' में निकले अनेक लेख; 'उत्तरपाड़ा स्पीच' तथा अन्य भाषण; और पॉण्डिचेरी आ जाने के बाद की उनकी 'मॉण्टेग्यू चेम्सफ़ॅर्ड रिफ़ॉर्म्स' पर टिप्पणी।

श्री अरविन्द के इन सारे लेखों और भाषणों की उल्लेखनीय विशेषता है उनका यह अटूट आग्रह भाव कि पूर्ण स्वतन्त्रता ही भारत का एकमात्र लक्ष्य हो। उनके तो शब्द हैं: "भारत को स्वयं अपने लिए ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के लिए स्वतन्त्र होना होगा।" और 'स्वराज' का अर्थ उनकी दृष्टि में था: "भारत के पुरातन कालीन जीवन स्वरूप की वर्तमान कालीन स्थितियों-परिस्थितियों में संसाधना, राष्ट्र के महानतम गौरवकालीन 'सत्ययुग' का प्रत्यावर्तन, विश्व के विशाल प्रांगण में अपनी आचार्य और मार्ग दर्शक की चिर-भूमिका का पुनरारम्भ, और वेदान्त के श्रेष्ठ आदर्श को राजनीति में फलीभूत करने के लिए देश के लोगों द्वारा आत्म-स्वातन्त्र्य लाभ। और यह कुछ भी," श्री अरविन्द ने आगे लिखा, "भारत तब तक नहीं कर सकेगा जब तक अपने जीवन को संचालित करने का सम्पूर्ण अधिकार उसके अपने हाथों में नहीं आ जाता। भारत को अपना जीवन एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में ही जीना है, किसी विदेशी साम्राज्य का अंग बनकर या उसका अधीनस्थ होकर नहीं।"

इस प्रकार श्री अरविन्द ने बिलकुल स्पष्ट कह दिया था कि देश का स्वतन्त्रता संघर्ष किस दिशा में और कैसे चलना चाहिए। उन्होंने एक ओर सत्याग्रह, बहिष्कार, असहयोग, ग्रामों का पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय शिक्षण की ओर निर्देश किया और दूसरी ओर आवश्यक होने पर सशस्त्र विद्रोह की दिशा भी सुझायी। श्री अरविन्द के इस काल के लेखन की एक और विशेषता यह रही है कि उसमें जहां भारत के गौरवपूर्ण अतीत का सच्चा और

सुस्पष्ट दर्शन कराया गया है वहीं उसके उज्ज्वलतर भविष्य के प्रति एक अडिग आस्था भी व्यक्त की गयी है।

श्री अरविन्द ने जिन विचार-भावनाओं को अपने इस लेखन में वाणी दी है वे आज भी उसी प्रकार प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं जिस प्रकार 1906 में थीं। 28 मार्च 1908 को उन्होंने लिखा था : "हम हिन्दू हैं और अपने सहज स्वभाव से ही आध्यात्मिक भी हैं। इसीलिए निखिल मानव जाति के अध्यात्मीकरण का कार्य हमें ही करना है, इसे विश्व का कोई और देश नहीं कर सकता।" इसी प्रकार स्पष्ट शब्दों में उन्होंने 'वन्देमातरम्' के 24 अप्रैल 1908 के सम्पादकीय में राजनीति के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहा था : "मेरी समझ से तो दो ही तत्व हैं जिन पर भारतीय राजनीति की नयी विचारधारा की पुरानी से भिन्नता आधारित जान पड़ती है : एक है उसकी प्रचण्ड यथार्थवादिता और दूसरी है उसकी उत्कट आध्यात्मिकता।"

श्री अरविन्द के जितने भी प्रमुख ग्रंथ अध्यात्म दर्शन, योग, संस्कृति, वेद, गीता तथा अन्य ऐसे विषयों पर हैं वे सभी पहले धारावाहिक रूप से 'आर्य' में प्रकाशित हुए थे; बाद को आवश्यक सुधार-संशोधन सहित ग्रथ रूप में आये। एक भी रचना उनकी नहीं है जिससे यथार्थवाद फूटा न पड़ता हो; और यथार्थवाद भी ऐसा जो तर्कबुद्धि-संगत भी है और लोकातीत ज्ञान-युक्त भी ! कारण यह कि उसका तो सारा आधार ही है समन्वयः बौद्धिक और वैज्ञानिक तथ्यों का और अन्तर्ज्ञात सत्यों का, अनुभूतियों का। वास्तव में श्री अरविन्द का ये समस्त लेखन उनके गम्भीर अध्ययन और ध्यान-चिन्तन की ही परिणति है। इसके अनुशीलन से न केवल जीवन सत्ता सम्बन्धी कठिन से कठिन समस्याओं पर एक सर्वग्राही दृष्टिज्ञान का परिचय मिलता है, और साथ ही भविष्यत् की सम्भावनाओं का एक सुस्पष्ट पूर्वाभास प्राप्त होता है; बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णयोग की साधना के लिए एक पूर्णतया अध्यात्मीकृत समाज के विकास के लिए, और मानवीय विविधता में एकता की संसिद्धि के लिए, निश्चित रूप से मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है।

श्री अरविन्द के विचारानुसार : "मानव का सच्चा धर्म है देवत्व को प्राप्त करना और अपनी पार्थिव जीवन सत्ता को तदनुरूप ढालना। यही विकास का वास्तविक अर्थ भी होगा।" देखा जाये तो श्री अरविन्द के सम्पूर्ण विचार-दर्शन का यही मूलभूत सिद्धान्त भी है। और इसीलिए 'द लाइफ डिवाइन' को उनकी प्रमुखतम कृति भी माना जाता है। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में उन्होंने वेदान्त का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए आत्मा और मन-प्राण, सच्चिदानन्द और ज्ञान-अज्ञान, और पुनर्जन्म और जीवात्मा का विवेचन किया है। और इस प्रकार इस सारी सामग्री के आधार पर वे अद्वैत का एक विशद और व्यापक प्रतिपादन प्रस्तुत करते हैं।

उन्होंने स्पष्ट किया है कि मन-प्राण और जड़तत्व तीनों आध्यात्मिक मन अथवा अतिमन के द्वारा प्रादुर्भूत हुए आत्मा के ही परिणाम हैं; और यही विश्वीय सत्ता का वास्तविक आधार है। मनुष्य अपने मन का अतिमन में विकास करके इस जीवन-जगत में आत्मा के वास्तविक सत्य का, जीवन और प्राण के उच्चतम धर्म का, साक्षात्कार कर सकता है। आत्मा ही सच्चिदानन्द स्वरूप है और उसके और इस जगत के बीच किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। जो भेद जान पड़ता है वह केवल इस कारण कि हम इस जगत को अज्ञान की दृष्टि से देखते हैं, ज्ञान की दृष्टि से नहीं।

हमारा अज्ञान स्वयं, वास्तव में, जड़तत्व की सदसद्विवेक शक्ति के प्रत्यावर्तन में से विकसित होता हुआ ज्ञान ही है, जो अपने सचेतन पूर्णत्व को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होता जा रहा है। इस पूर्णत्व को प्राप्त किया जा सके और मनुष्य के पार्थिव जीवन के अन्तर्गत ही आध्यात्मिक जीवन को अभिव्यक्त किया जा सके, इसका अवसर देने के लिए ही जन्म-जन्मान्तर का क्रम चला करता है। श्री अरविन्द, इस प्रकार क्रम-विकास के सत्य को स्वीकार करते हैं; केवल पांश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उसके भौतिक रूप को वे उतना नहीं मानते जितना उसके दार्शनिक रूप के सत्य को मानते हैं। अर्थात उनकी मान्यता है कि प्राण और मन और आत्मा का यहीं जड़तत्व में अन्तर्लयन हुआ करता है और उत्तरोत्तर विकसित रूप

में उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस विकास का ही चरम रूप विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन अर्थात दिव्य जीवन होता है।

'ऑन द वेद' शीर्षक अपने ग्रंथ में श्री अरविन्द ने वेदों में प्रयुक्त हुए प्रतीकों का रहस्योद्‌घाटन किया है और कर्मकाण्ड के आल-जाल का जो धुन्ध उन पर छा दिया गया है उसे दूर किया है।

'एसेज़ ऑन द गीता' एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है उनका जिसमें उन्होंने 'भगवद्‌गीता' की अत्यन्त प्रांजल और प्रभविष्णु व्याख्या प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ में 'भगवद्‌गीता' की विवेचना द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि 'गीता' जगत-जीवन के विशालतम और कठिनतम अंग 'कर्म' में परम आत्म सत्य का विनियोजन करती है और उस मार्ग की ओर इंगित करती है जिसका अनुसरण करके हम अपने आत्मभाव में अवस्थित हो सकते हैं और बाह्य जीवन और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य ला सकते हैं।

श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि अपने अन्तर्जगत के अज्ञान, मिथ्या तदात्मीकरण, और मन-प्राण एवं देह की बाह्य प्रक्रिया के साथ तादात्म्य किए हुए होने के कारण हमारा यथार्थ जीव और आत्मा हमारी बुद्धि के लिए अप्रत्यक्ष हुए रहते हैं। किन्तु अपने इन प्राकृतिक साधन-उपकरणों के साथ तादात्म्य की इस अवस्था से यदि एक बार भी मनुष्य का सक्रिय जीव विलग हो सके और अपनी आन्तरिक वास्तविकता में एकनिष्ठ होकर स्थिर भाव से सब-कुछ देख-समझ सके, तब सभी कुछ और का और हो उठेगा; जीवन और अस्तित्व का तब और ही रूप और अर्थ होगा, और कर्म का एक भिन्न ही उद्देश्य और स्वरूप।

फिर तो हमारी यह जीवसत्ता प्रकृति की आज जैसी अहंता-भरी सृष्टि न होगी, बल्कि उस दिव्य-अविनश्वर भागवत शक्ति का विस्तार होगी। हमारी चेतना भी तब नाना सीमाओं में बंधे, संघर्ष करते, इस मनोमय और प्राणमय जीव की चेतना जैसी न होगी; बल्कि अनन्त, दिव्य और परम आध्यात्मिक चेतना होगी। यही नहीं, हमारी इच्छाशक्ति और कर्म-शक्ति भी इस परिबद्ध व्यक्तित्व और उसके अहंकार का प्रस्फुटन न होकर

दैवी और आध्यात्मिक शक्ति होंगी, मानवमूर्ति के माध्यम से उन्मुक्त रूप में कार्य करती उस परात्पर, विश्वमूर्ति, अखिल आत्मन् परमात्मन् की ही इच्छा और कर्मशक्ति होंगी।

'द सिन्थेसिस ऑव योग' में श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक आत्मानुशासन की विभिन्न पद्धतियों के नियम-सिद्धान्तों और विधि-रूपों पर एक व्यापक दृष्टि-मत प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि अपने जगत-जीवन में रहते हुए भी मनुष्य किस प्रकार योग के द्वारा एक समग्रतापूर्ण दिव्य जीवन को प्राप्त कर सकता है।

'द आइडियल ऑव ह्यू मन यूनिटी' और 'द ह्यू मन साइकिल' उनके अन्य दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। पहले में उन्होंने मानव जाति के अपने घनिष्ठतर एकीकरण की प्रवृत्ति को विषय बनाकर उसके विभिन्न भावों और अनुभावों की विवेचना की है और स्पष्ट किया है कि उनमें कहां किस कमी को पूरा करने से यथार्थ एकता को सत्य किया जा सकता है। दूसरा ग्रन्थ पहले 'साइकॉलॅजी ऑव सोशल डेवेलॅपमेण्ट' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इसमें श्री अरविन्द ने दिखाया है कि किस प्रकार भावी मानव समाज एक आध्यात्मिक समाज हो सकता है, होगा ही। वस्तुतः तो उनका समूचा समाज दर्शन उनके अध्यात्म दर्शन का ही एक अंग है।

अरविन्दीय साहित्य का एक बड़ा और महत्वपूर्ण अंग उनके वे अनगिनत पत्र हैं जो उन्होंने समय-समय पर अपने शिष्यों को लिखे। सचमुच हजारों पत्र होते थे जो उन्हें प्राप्त हुआ करते थे और उनके समय का काफी बड़ा भाग इनका उत्तर देने में जाता था। इन पत्रों के विषयों में मानव जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक विषय सम्मिलित है : ईश्वर, प्रकृति, मनुष्य, मानवीय सत्ता के विभिन्न स्तर और खण्ड, ध्यान-चिन्तन, हठयोग, तन्त्रशास्त्र, निद्रा और स्वप्न, मन, अन्तर्ज्ञान, बीमारी, ध्यानदृश्य, कला, साहित्य, साधनारूप कार्यकर्म, गुह्यज्ञान, ब्रह्मचर्य, आहार, नियति, कर्मयोग, पुनर्जन्म, साहित्य-समीक्षा, संस्कृति, विश्व की विभिन्न गति-प्रवृत्तियां, सामाजिक समस्याएं, काव्य-रचना, पैसा, अतिमानसी रूपान्तरण, आदि-आदि। सच तो उनके

सिद्धान्त 'सारा जीवन ही योग है' में मानव का सारा ही तो कार्य-व्यवहार समाया हुआ है !

इन ग्रंथों और पत्रों के अतिरिक्त श्री अरविन्द की कुछ और भी पुस्तकें हैं जो उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'द फाउण्डेशन्स ऑव इण्डियन कल्चर' में उन्होंने हिन्दू धर्म की मूल आत्मा, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य, शिक्षा, राज्यतन्त्र आदि विषयों को लेकर दर्शाया है कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति देश की प्राणात्मा की ही अभिव्यक्ति है। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कहा है : "ऊपरी और सीमित-संकुचित अर्थ में हम कभी भी अपने में अकेले नहीं हो सकते। क्योंकि आवश्यक रूप से हमें अपने चारों ओर फैले विश्व का ध्यान भी रखना होगा और उसकी पूरी से पूरी जानकारी रखनी होगी। इसके बिना तो सचमुच हमारा जीना और रहना तक कठिन होगा।"

इसी पुस्तक में एक अन्य प्रसंग में उन्होंने लिखा है : "यह अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृति के एकोएक क्षेत्र का हम अवलोकन करें और, भारत की आत्मा-भावना और आदर्श पर सदा दृढ़ पकड़ रखते हुए, यह देखें कि उन क्षेत्रों में से प्रत्येक की वर्तमान स्थिति और सम्भावनाओं पर किस प्रकार उनका प्रभाव स्थापित हो सकता है और कहां तक वे हमें एक नयी विजयमान सृष्टि की ओर अग्रसर कर सकते हैं।"

श्री अरविन्द की कई लघु कृतियां भी हैं। जैसे : 'द मदर', 'द ऑवर ऑव गॉड', 'द प्रॉब्लेम्स ऑव रीबर्थ' आदि। इन कृतियों के द्वारा भी जीवन और जगत सम्बन्धी विभिन्न विषय-समस्याओं पर अरविन्दीय चेतना का विशद प्रकाशालोक पड़ता है। और भी नहीं तो केवल इस दृष्टि से ही इन पुस्तकों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है कि अभिव्यक्ति का सर्वथा निर्दोष और आदर्श रूप क्या हो सकता है इसका परिचय पा सकें। इनसे हमारे भीतर का आलोक-दीप जग उठता है, ऊपर के आकाश के अनन्त विस्तार खुल पड़ते हैं, और विचार-चेतना की वह प्रेरणा और प्रभावपूर्ण अदेह छवि साकार हो उठती है जिसकी एकमात्र देह वाणी और भाषा ही हो सकती हैं।

अपनी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति 'द फ़्यूचर पोएट्री' में श्री अरविन्द ने कहा है : "जब-जब औदात्य के क्षण आये, विगत कालीन काव्य ने प्रयत्न भर किया था कि सृष्टि के मूल में जो दैवी सत्ता की वास्तविकता विद्यमान है उसे वाणी दे सके; किन्तु भविष्यत् के काव्य के लिए भरपूर अवसर होने की सम्भावना है कि इसे एक सुस्थिर प्रयास और सचेतन अभीष्ट बना सके। सचमुच उसे इस कठिन और दुरूह समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है कि मानवात्मा की गहन से गहन गहराइयों और प्रत्येक वस्तु में एकमेव विश्वात्मा की उपस्थिति के चिर सत्य को किस प्रकार वाचा मिले।"

आगे उन्होंने स्पष्ट किया : "भविष्यत् के काव्य का तो धर्म ही होगा कि अपने इस ध्यान-दर्शन और इस अनुभूति के अभिव्यक्तिकरण के लिए ऐसे काव्य-रूपों का सन्धान करे जो सौन्दर्यात्मक और प्रेरणापूर्ण हों और ऐसी भाषा का अन्वेषण करे जो रहस्यों के उद्घाटन में सक्षम हो। सच तो भविष्यत् की काव्य-कला का अनिवार्य और निश्चयात्मक सार भाव सम्भवतः इस सत्य को ज्ञात करना होगा कि काव्यगत विधा-रूप के द्वारा आत्मा का निर्धारण या उद्घाटन नहीं होता बल्कि वास्तव में आत्मा स्वयं अपने भीतर से रूप और शब्द का सृजन करती है।"

श्री अरविन्द की अन्यतम कृति 'सावित्री', जो एक आख्यानिका और प्रतीक कथा है, उनकी सबसे बाद की और एक महान काव्य-कृति है। अतुकान्त छन्द में लिखी हुई इस विराट् रचना में 23,800 पंक्तियां हैं और, इस प्रकार, यह सहज ही समस्त अंग्रेजी साहित्य का बृहत्तम महाकाव्य बन गया है। श्री अरविन्द ने परिचय देते हुए इसे "एक ऐसी अभिनव और अलौकिक रहस्यात्मक रचना" बताया है कि जिसमें "अभिनव ध्यानदर्शन के अभिनव आयाम खुले हैं और अभिव्यक्तिकरण के नव्यतम रूप साकार हो आये हैं।" उन्होंने कहा है : "सावित्री को मैंने अपने ऊर्ध्वगमन का माध्यम बनाया है। इसका प्रारम्भ भी एक विशेष मानसिक स्तर तक पहुंच जाने पर ही किया गया और, हर बार, जैसे ही मैं उच्चतर स्तर पर पहुंचता कि लिखे हुए को फिर से लिखता।

"इसके अतिरिक्त, स्वयं अपनी ओर से भी मैं बराबर सावधान था। रचना का यदि कोई भी अंश किसी निचले स्तर से आया हुआ लगता तो उसी रूप में उसे छोड़कर बैठ न रहता, भले ही वह काव्य की दृष्टि से कितना भी सुन्दर क्यों न हो। मेरा तो बराबर आग्रह रहा कि इस महा-काव्य की प्रत्येक पंक्ति उसी एकमात्र टकसाल की निकली हुई हो। सच तो 'सावित्री' को मैंने इस भाव में कभी लिया ही नहीं कि यह एक रचना मात्र है जिसे पूरा करना ही है। मेरे लिए तो यह इस प्रयोग का एक विशाल क्षेत्र रही कि योग-चेतना में स्थित रहते हुए कहां तक काव्य-रचना की जा सकती है और कहां तक उसे सर्जनात्मकता-युक्त भी बनाया जा सकता है, यह देखूं।" यह भी श्री अरविन्द ने कहा कि 'सावित्री' तो वास्तव में "मेरी अनुभूतियों का, और जो कुछ उस अवस्था विशेष में मुझे दिखा, उसी का अंकन है, और वह तो किसी भी दृष्टि से सामान्य प्रकार का नहीं।"

'सावित्री' में सचमुच ही उस परमज्ञान का दर्शन प्राप्त होता है जो समस्त विचार-दर्शनों से ऊंचा है और मानव जाति के समस्त धर्मों से श्रेष्ठ। सावित्री स्वयं अपने में एक पूर्ण आध्यात्मिक मार्ग बन आयी है, एक योग-पद्धति प्रस्तुत करती है, तप और साधना की विधि को रूप-आकार देती है। सभी कुछ तो इस एक कृति में समो दिया गया है। इसकी शक्ति-सामर्थ्य भी असाधारण है। प्रत्येक ग्रहणशील साधक पाठक को इसमें से आध्यात्मिक स्पन्दनों की धाराएं फूटती मिलेंगी; और ये स्पन्दन नितान्त सत्य होंगे और प्रत्येक आध्यात्मिक चेतनागत स्तर के अनुरूप। 'सावित्री' में परम सत्य अपने पूर्णत्व में साकार हुआ है : वही सत्य जिसकी श्री अरविन्द ने धरती पर अवतारणा की।

वस्तुत: श्री अरविन्द ने तो देवदूत होकर इस महाकाव्य के द्वारा दैवी सन्देश प्रदान किया है; यदि केवल उसे हम पहचान सकें! यह महाकाव्य श्री अरविन्द पर प्रकट हुए ईश्वरीय ज्ञान से ओत-प्रोत है और सचमुच ही ध्यान-चिन्तना का रूपायन एवं उस अनन्त और नित्य प्रभु की निरत खोज का एक अभूतपूर्व महावृत्त है। हृदय में सच्ची अभीप्सा लेकर यदि

इसका पारायण किया जाये तो उतने मात्र से भी अमरत्व का मार्गदर्शन मिल सकता है। योग-साधना के एक-एक चरण का वर्णन इसमें किया गया है और साथ ही अन्यान्य योगों का उल्लेखन भी। यह कहना अत्युक्ति नहीं कि इसकी पंक्तियों के अन्तःप्रकाश का यदि कोई सचाई के साथ अनुसरण करे तो बिना गुरू के भी वह अतिमानसी रूपान्तर को प्राप्त हो सकता है।

'सावित्री' निश्चित रूप से एक अचूक मार्गदर्शक है। इसमें सभी विषयों का समावेश हुआ है: रहस्यवाद, गुह्यवाद, तत्वदर्शन, क्रमविकास का इतिहास; और मानव का, देवताओं का, सृष्टि का, प्रकृति का इतिहास, सभी इसमें समाया है। यह तक इसमें स्पष्ट किया गया है कि इस विश्व की रचना कैसे हुई, किस उद्देश्य से और किस भवितव्यता के लिए। कैसी भी किसी की जिज्ञासा या समस्या हो, उसका सम्पूर्ण समाधान इसमें मिल जाता है। बहुत कुछ तो इसमें ऐसा भी दिया और स्पष्ट किया गया है जिसका अभी तक किसी को ज्ञान भी नहीं। यदि केवल उसे खोज पाने की और ग्रहण कर सकने की क्षमता-योग्यता किसी में हो! नीचे कुछ उद्धरण भी 'सावित्री' से दिये जा रहे हैं—

"सहसा जादू-सी उपपादक शक्ति एक पकड़ाई आती
जो प्रच्छन्न वाचातीत की कालरहित इच्छा को चालित कर देती :
एक निवेदन, महत् कर्म एक, एक ही सौम्य भाव
कि विश्वातीत महाशक्ति से मानव की लघु शक्ति संयुत हो जाती।
और तब चमत्कार ही बन जाता एक नियम सामान्य
विधि के विधानों तक को बदल देता मात्र एक विभु कर्म
एकाकी भाव एक ही फिर बन जाता सर्वशक्तिमान्।"

"फिर तो नित्यता से जनमा पूर्णत्व
आलिंगन करता काल-जनित पूर्णत्व से,
मानव के जीवन को चकित करती सत्यता ईश्वर की,

स्वयं भागवत स्वरूप कर लेता समकक्ष सीमाबद्ध आकारों को।
द्योतित होता शाश्वतिक ज्योति का संसार चतुर्दिक्,
अमर्त्य अतिमन के विस्तीर्ण साम्राज्य में करता निवास
परम सत्य जो छिपा रहस्यों के गुंजलक में,
पहेलिका बुद्धि ने मानी जिसकी अशक्य-असाध्य
भौतिक रूप की संरचना में बद्ध होने से
हो रहस्यमुक्त वही अवगुण्ठन त्याग सम्मुख होती प्रकृति,
हो जाता आलोकित सहज धर्म भी तत्व-तत्व का वस्तु-वस्तु का।"

"काया तब होती निर्मिति आत्मतत्व की,
अनल अनश्वर के स्थापन का आधार,
वृत्ति-वृत्ति बन जाती कर्ममय जीव की,
होते पग-डग विचार-चिन्तना के अचूक अबाध निर्द्वन्द्व,
बन उठता सारा जीवन ही अविराम उपासना कृत्य,
नैवेद्य परमानन्द का भाव-भीना उस एकतम के चरणों में।
लेकर वैश्व भावदृष्टि, शुभ्रकान्त अध्यात्ममय संविद्
होता अनुभव निहित ससीम में वह परम अनन्त असीम
दिव्य प्रकाश की प्रस्फुरित भावाभिभूति में तब
मिलता दर्शन उस अशरीरी के परम प्रफुल्ल द्युतिमान मृदु मुख का,
अंजुलि बनता वह दुर्लभ क्षण, उस एक क्षण का प्राणसत्य
पी सकता घूंट-घूंट अविनाशी नित्यता का मधु-द्राक्षारस।"

श्री अरविन्द की कुछ प्रारम्भिक काल की कविताएं भी हैं जो उन्होंने इंग्लैंड में रहते 1890 से 1892 के बीच मात्र 18 वर्ष की अवस्था में लिखीं। ये रचनाएं 'द सॉङ्ग्ज टु मिर्टिल' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। कुछ और कविताएं 1905 से 1910 के काल की हैं; ये सब 'कलेक्टेड पोएम्स ऐण्ड प्लेज़' में आयी हैं। इनके अतिरिक्त मात्रिक षट्पदी छन्द में उनका

महाकाव्य 'इलियॅन' भी है जो यूनान की एक युद्धकथा पर आधारित है।

श्री अरविन्द ने संस्कृत और बांग्ला की कई उत्कृष्ट काव्य और नाट्य कृतियों का भी अंग्रेजी अनुवाद किया है। संस्कृत से अनूदित प्रमुख कृतियां हैं कालिदास का नाटक 'विक्रमोर्वशी', जो 'द हीरो ऐण्ड द निम्फ़' शीर्षक से आयी, और वेदों से ली गयी रचना 'हिम्स टु द मिस्टिक फ़ाएर'।

श्री अरविन्द के लिखे हुए नाटकों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इनमें चार, जो अतुकान्त कविता में हैं, चार विभिन्न देशों की पृष्ठभूमि पर निबद्ध हैं : प्राचीन यूनान, सीरिया, फारस और ईराक। 'वासवदत्ता' उनका एक अन्य महत्वपूर्ण नाटक है जो उत्तर-महाभारत कालीन भारतीय पृष्ठभूमि को लेकर लिखा गया है। पर उनके इन नाटकों की पृष्ठभूमि कोई भी हो, संकेत सबका एक ही विचार-बिन्दु की ओर है : कि मानव के जीवन-जगत की जितनी भी घटनाएं हैं वे सभी दैवी चेतना के द्वारा नियन्त्रित-संचालित होती हैं और उन सबका उद्देश्य अन्तर में सामंजस्य की ललक जगाना होता है।

साहित्य समीक्षक के रूप में भी श्री अरविन्द का एक अपना विशेष स्थान है। गेटे, शेक्सपियर, होमर, वर्ड्सवर्थ, वाल्मीकि, दांते, कालिदास, एस्किलस, वर्जिल, मिल्टन, सोफोक्लीज, व्यास आदि जैसी विभिन्न भाव-क्षेत्रों की साहित्यिक विभूतियों पर जो टिप्पणियां उन्होंने लिखी हैं उनसे इन महान प्रतिभाओं के सृजन पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ता है।

श्री अरविन्द के लेखन में विगत और वर्तमान और भविष्यत्, भगवान और उसकी सृष्टि—सब एक संघटित आत्मचेतना की अनुभूति और अभिव्यक्ति के रूप में एक और अभिन्न होकर सामने आते हैं। वास्तव में उनका एक-एक शब्द मानवता के लिए स्वयं भगवान का वरदान है।

16. श्री अरविन्द आश्रम

श्री मां ने एक बार कहा था : "मेरा लक्ष्य एक ऐसे विशाल परिवार की स्थापना करना है जहां प्रत्येक व्यक्ति को सुविधा हो कि अपनी क्षमताओं का पूरा-पूरा विकास कर सके और उन्हें अभिव्यक्ति भी दे सके।"

श्री अरविन्द आश्रम श्री अरविन्द और श्री मां के ऐसे ही आदर्शों का संमूर्तन है। 1910 में जब पहले पहल श्री अरविन्द पॉण्डिचेरी आये तब उनके कुछ युवा राजनीतिक सहयोगी भी साथ आये थे और ये सब एक परिवार के रूप में इकट्ठा ही रहते थे। कुछ समय बाद कुछ आध्यात्मिक साधक भी आ गये। पर आगन्तुकों की सख्या में विशेष वृद्धि, और एक सामूहिक जीवन-चर्या की सम्भावना, 1920 में ही उभरकर सामने आयीं जब श्री मां वहां अन्तिम रूप से आ गयीं। फिर भी यथार्थ में तो आश्रम ने 24 नवम्बर 1926 के बाद से ही स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया जब श्री अरविन्द ने अपने तमाम शिष्यों-साधकों की देखरेख का भार श्री मां को सौंपा।

हमारे यहां भारत में 'आश्रम' से बोध एक ऐसे सुसम्बद्ध समाज से होता है जो सांसारिक जीवन को त्यागकर आध्यात्मिक जीवन की साधना के लिए गुरू के सान्निध्य में इकट्ठा रहता हो। पर इस बात के सत्य होते हुए भी कि यहां साधक और शिष्यगण पहले श्री अरविन्द के और बाद को श्री मां के सन्निकट आये, उक्त परिभाषा श्री अरविन्द आश्रम पर चरितार्थ नहीं होती। क्योंकि, श्री अरविन्द के ही शब्दों में, "यह आश्रम वास्तव में संसार से संन्यास ले बैठने के लिए नहीं है, बल्कि एक भिन्न रूप और भाव के जीवन को विकसित करने का केन्द्र और साधना-क्षेत्र है।"

आश्रम संस्थापित करने की श्री अरविन्द के कभी मन में भीं आयी

उससे पहले और आन्दोलनकारी जीवन-काल में वे गिरफ्तार किये गये उससे भी पहले, उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा था : "आध्यात्मिक जीवन की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति उसी व्यक्ति में हो सकती है जो योगक्षम होकर भी सामान्य रूप का जीवन जीता हो। वास्तव में आंतरिक और बाह्य जीवन की इस संयुक्ति से ही अंततः मानवजाति का उत्थान होगा और वह शक्ति-सम्पन्न और दिव्य बन सकेगी।"

इस प्रकार, श्री अरविन्द आश्रम एक ऐसा स्थान है जहां सामान्य जीवन आध्यात्मिक जीवन का एक अनिवार्य और आधारभूत अंग माना जाता है। आश्रम के वर्तमान 1600 सदस्यों में से, जो विभिन्न राष्ट्रों से और विभिन्न सामाजिक स्थितियों से आये हैं, कोई भी न संन्यासी है न तापस-यति ; वे सभी साधक हैं, जिज्ञासु और अभीप्सु और उनका एकमात्र आदर्श है कि धरती पर धरती का ही जीवन जीते हुए दिव्य जीवन की संप्राप्ति करें। इसीलिए केवल उन व्यक्तियों को यहां स्वीकार किया जाता है जिनके अंतर में, श्री मां की दृष्टि से भगवान के लिए सच्ची पुकार हो। श्री अरविन्द ने बात को स्पष्ट करते हुए एक अवसर पर कहा था : "हम तो धनी और रंक, कुलीन और सामान्य, सभी का समान भाव से स्वागत करते हैं, और समान ही संरक्षण और प्रेम सबको देते हैं।"

1920 के बाद से आश्रम का लगातार विकास हुआ है। मुख्य भवनों के अतिरिक्त जहां श्री मां का निवास है और जहां श्री अरविन्द की समाधि भी है, आश्रम के कई और भवन हो गये है जो पॉण्डिचेरी नगर और उसके चारों ओर के अंचल में जगह-जगह बने हुए हैं। किसी ने एक बार श्री अरविन्द से पूछा था कि आश्रम की अपनी सीमाभूमि कौन-सी या कहां तक है तो उन्होंने उत्तर दिया था : "छोटा या बड़ा प्रत्येक वासस्थान, जहां आश्रम के साधक हैं, आश्रम की सीमाभूमि में ही है।"

कुछ लोग, उनमें पश्चिमी देशों के तो विशेषकर, जब पहले-पहले यहां आते हैं तो उन्हें बड़ा अटपटा-सा लगता है। कोई यहां बताने को नहीं होता कि वे क्या सीखें और कैसे-किससे, न किसी प्रकार की कक्षाएं लगती हैं, न

कोई शिक्षण-प्रशिक्षण ही होता है। यहां तो केवल उपलब्ध होते हैं श्री अरविन्द और श्री मां के वचन, जिन्हें अवश्य कोई जितना चाहे हृदयंगम कर सकता है। सच तो भावी शिष्य को यहां के कर्म-संकुल जीवन के भीतर पैठकर अपने लिए सब कुछ स्वयं ही देख-समझकर ग्रहण कर लेना होता है। आश्रम की ओर से उसे पूरी स्वतन्त्रता रहती है। किसी भी प्रकार की कोई परिखा-प्राचीरें यहां नहीं होतीं, होती है एकमात्र अपनी ही अन्तर्ज्योति जिसके आलोक में साधना के पथ पर आगे बढ़ते जाना होता है।

श्री अरविन्द ने तो आश्रम को एक विशाल प्रयोगशाला की संज्ञा दी है जो अपने में सभी स्तरों के मानसिक, प्राणिक और चैतिक विकास-कार्य को समोये हुए है। यहां सभी अवस्थाओं और प्रकारों के व्यक्ति मिलेंगे और सभी परम्पराओं का परिवेश भी। अनेक साधक हैं जो हिन्दू संस्कारों में जनमे-पले हैं, अनेक इस्लामी और ईसाई संस्कारों में, और अनेक तो ताओ धर्म, बौद्ध धर्म और निरीश्वरवाद तक के संस्कारों में भी। और ये सभी अपनी-अपनी विकास-यात्रा की विभिन्न अवस्थाओं में हैं। प्रत्येक साधक को अपने लिए अपने सत्य का स्वयं अनुसंधान कराना होता है और यह आवश्यक नहीं कि जो सत्य एक का है वही किसी दूसरे का भी हो। अनेक साधक ऐसे भी हैं जिनकी, यद्यपि श्री अरविन्द ने उसे कभी प्रोत्साहित नहीं किया तो भी, तापस जीवन में आस्था है और वे एकान्तवासी होकर रहते हैं।

किन्तु अधिकतर साधक आश्रम में कर्मरत रहते हैं। और इसके लिए तो यहां अपार क्षेत्र है और प्रत्येक साधक की अपनी विशेष रुचि के अनुकूल होने का अवसर भी। कोई चाहे तो वहां के अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र में अध्यापन कर सकता है जो किण्डरगार्टेन स्तर से लेकर विश्वविद्यालय की स्नातक श्रेणी तक का होगा; तो कोई वहां की उत्पादन शाखाओं में से इच्छानुसार स्टेन्लेस स्टील का सामान, हाथ-बना कागज, फर्नीचर, इत्र-फुलेल, हाथ-करघे का कपड़ा आदि तैयार करने में हाथ बंटा सकता है; या किसी फार्म या बगीचे के ही काम में लग सकता है। किसी में यदि प्रवृत्ति

मेकैनिक के कामों की है तो यहां कार, ट्रैक्टर और ट्रकों के भी कारखाने हैं। इसी प्रकार सिलाई, बेकरी, मुद्रण, बढ़ईगीरी, डेयरी फार्मिंग के काम हैं। और यदि कोई बहुत ही सीधे-सादे रूप में रहना चुने तो उसके लिए रसोईघर में बरतन साफ करने तक का काम हो सकता है।

आश्रम में कई पुस्तकालय हैं, वाचनालय हैं, एक लम्बा-चौड़ा खेल का मैदान है, तैरने के लिए बड़ा-सा तालाब है, और संगीत-चित्रकारी एवं फोटोग्राफी सीखने की सारी सुविधाएं हैं।

बड़ी बात वहां यह है कि कोई काम किसी दूसरे से न ऊंचा समझा जाता है न नीचा ही; और पारिश्रमिक के आधार पर तो कोई भी काम नहीं किया जाता। जीवन की आवश्यकताएं सभी श्री मां की ओर से उपलब्ध रहती हैं, इसलिए आर्थिक चिन्ता से साधकगण सर्वथा मुक्त हैं। उनका सबका तो केवल एक ही काम और एक ही लक्ष्य रहता है कि अपनी जीवन-सत्ता के यथार्थ का अनुसंधान करें।

इसी दृष्टि से जो भी काम वहां किया जाता है वह सेवा और निस्स्वार्थ भाव से ही और प्रभु के प्रति समर्पण के रूप में। यह लक्ष्य प्रत्येक साधक के मन में दृढ़ता के साथ बराबर बना रहता है कि उसे अपना सम्पूर्ण रूपान्तर प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में श्री मां का कथन है : "भगवान के लिए कार्य करने का अर्थ होता है अपने शरीर के अंग-अंग से उसकी आराधना करना।"

आश्रम में लगभग 800 बच्चे भी रहते हैं। इनकी समुचित शिक्षा आदि की दृष्टि से ही 1952 में श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र की संस्थापना की गयी थी। स्वभावत: जो शिक्षा यहां दी जाती है वह सामान्य प्रकार की नहीं होती। श्री मां का कहना है : "शिक्षा में सम्पूर्णता आ सके इसके लिए आवश्यक है कि मानवप्राणी की जीवनगत कार्य-प्रवृत्तियों के पांचों प्रधान पक्षों को ध्यान में रखा जाये। ये पांचों पक्ष हैं : शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैतिक और आध्यात्मिक पक्ष।"

एक अन्य प्रसंग में श्री मां ने स्पष्ट किया है : "शिक्षा के शारीरिक,

प्राणिक और मानसिक दिशा-क्षेत्रों का सम्बन्ध केवल व्यक्तित्व के निर्माण से रहता है। पर जीवन के वास्तविक मूल हेतु धरती पर जन्म लेने के यथार्थ उद्देश्य, जीवन-सत्ता अन्ततः जिस ओर प्रवृत्त करती है उसकी अन्वेषणा, उस अन्वेषणा के सुपरिणाम, और व्यक्ति के अन्तर्निहित परम सत्य के प्रति निवेदना-भाव आदि की समस्याओं का समाधान तो चैतिक ज्ञान-शिक्षण के बिना सम्भव नहीं होता।"

वर्षों पहले, जब श्री मां नियमित रूप से आश्रम के बच्चों के साथ मिलती-भेंटती और वात-चर्चा किया करती थीं, तब एक दिन उन्हें सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा था : "तुम मेरे सभी बच्चे यहां एक असामान्य स्वतन्त्रता के वातावरण में रहते हो। किसी प्रकार का सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक प्रतिबन्ध यहां नहीं है; कोई नियम-बन्धन भी नहीं है; यहां पर है तो केवल वही एक ज्योति।"

श्री मां अपने कक्ष में ही रहती थी वहीं साधकों और अभ्यागतों के पहुंचने की व्यवस्था थी। सार्वजनिक रूप से उनका दर्शन वर्ष में केवल चार अवसरों पर होता था पर कुछ समय इण्टरव्यू आदि के लिए वे तब भी दे देती थी और आश्रम की समस्त कार्य-प्रवृत्तियों का नियन्त्रण-संचालन तो वे वरावर करती ही थीं उनके स्वयं अपने शब्दों में : "आश्रम का विकास तो जैसे किसी अरण्य के स्वतः विकास की नांई अव्याहत रूप में होता आया है। यहां की जितनी भी कार्य-प्रवृत्तियां हैं उनमें से कोई भी किसी प्रकार की विचारित नियोजना का अंग बनकर सामने नहीं आयीं, ये तो सभी यहां की जीवन्त और चिरक्रियाशील आवश्यकताओं के उत्तर में ही फूटी हैं।"

"आश्रम की तो संस्थापना ही इस उद्देश्य और भावना को लेकर की गयी है कि यह एक सर्वथा नये जीवन-जगत का उद्‌गम स्थान बन सके। यहां का द्वार खुला हुआ है और उन सबके लिए सदा खुला मिलेगा जो उक्त उद्देश्य के लिए अपने को समर्पित करने का संकल्प कर चुके हैं।"

17. ऑरोविल

श्री अरविन्द के पूर्णयोग का मुख्य उद्देश्य है मानव का अतिमानसी रूपान्तरण। 29 फरवरी 1956 को जो अतिमानसी अवतरण हुआ वह इसी रूपान्तरण का प्रथम चरण था। दूसरा चरण तब सामने आया जब श्री अरविन्द के नाम पर आधारित विश्वनगरी 'ऑरोविल' की संस्थापना हुई। श्री मां ने 1931 में ही कहा था : "जहां एक बार अतिमन और पार्थिव मानव का संयोजन हुआ कि फिर तो एक अभिनव संरचना के रूप में यहां बाह्य जगत् में उसके नाना प्रभाव देखने में आयेंगे। उस अभिनव संरचना का समारम्भ एक आदर्श नगरी से होगा और उसकी परिसमाप्ति समूचे विश्व के पूर्णत्व से।"

ऑरोविल, अर्थात उषानगरी, का प्रयोजन श्री अरविन्द के विचार-आदर्शों को साकार रूप प्रदान करना है। इसका शिलान्यास 28 फरवरी 1968 को किया गया था। उस अवसर पर श्री मां ने जो भावोद्गार व्यक्त किये, वे थे : "ऑरोविल की ओर से सभी सद्भावनापूर्ण जनों का अभिवादन ! ऑरोविल का आमन्त्रण उन सबके लिए प्रस्तुत है जिनके अन्तर में यथार्थ विकास की पिपासा है और उच्चतर-सत्यतर जीवन की अभीप्सा !"

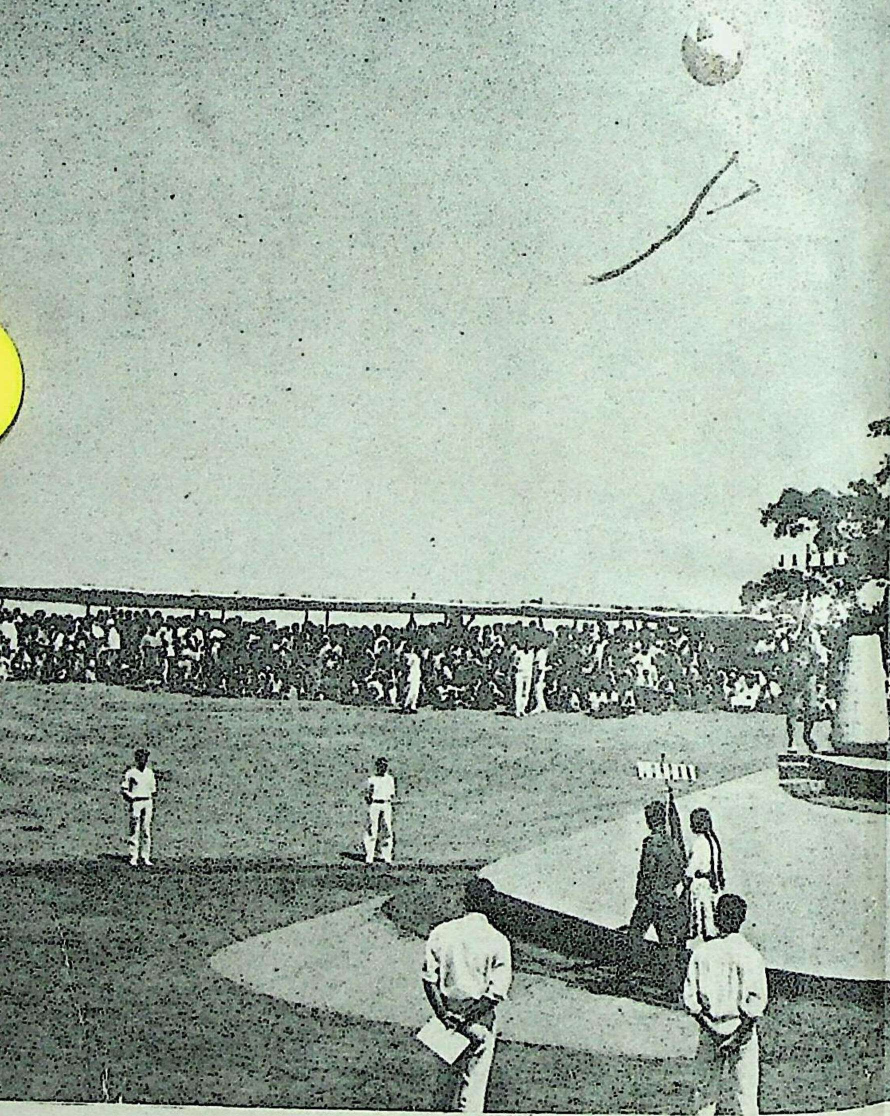
ऑरोविल के घोषणा पत्र में कहा गया है :

"ऑरोविल किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं, इस पर समूची मानवता का ही अधिकार है। किन्तु यहां के लिए आवश्यक है कि अन्तर में भागवत चेतना के प्रति सेवा-भावना का संकल्प हो।

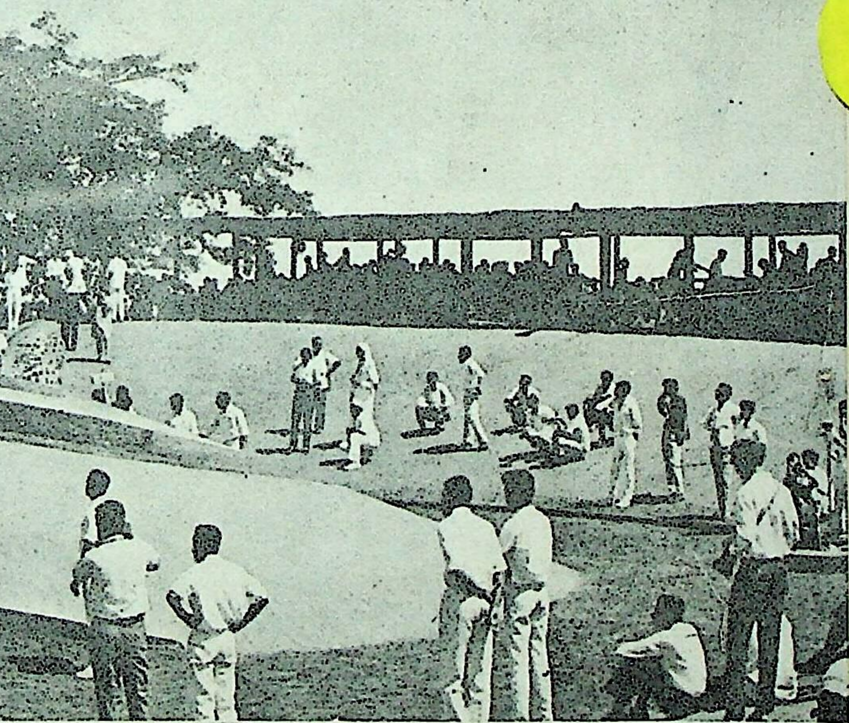
"ऑरोविल निरन्त शिक्षा-ज्ञान की एक विशिष्ट पीठ होगा, सतत विकास और जरातीत यौवन की केन्द्रभूमि।



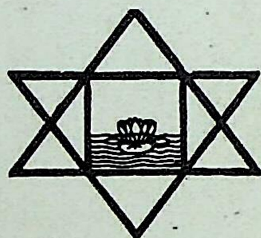
चित्र 10—ग्रौरोविले में मातृमंदिर के सामने काम करते हुए ग्राश्रमवासी



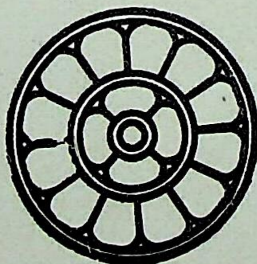
चित्र 11 — 1968-



रोविले का शिलान्यास



आकृति 1—अरविंद-प्रतीक



आकृति 2—श्रीमां का प्रतीक

"आॅरोविल का अभीष्ट है विगत और अनागत के बीच एक सेतु का रूप ग्रहण करना। अन्तर और बाहर की जितनी भी अन्वेषणाएं और उपलब्धियां हैं उन सबका लाभ लेते हुए आॅरोविल भावी संसिद्धियों की दिशा में निर्भीक भाव से अग्रसर होगा।

"आॅरोविल सम्पूर्ण मानवता के यथार्थ एकीकरण का जीवन्त संमूर्तन प्रस्तुत करने के लिए अभीष्ट भौतिक और आध्यात्मिक शोध-अनुसंधान की निर्दिष्ट स्थली होगा।"

श्री मां के ही शब्दों में : "आॅरोविल को वास्तव में एक ऐसी विश्वनगरी बन उठना है; जहां देश-देश के नर-नारी सच्ची शान्ति और चिर वर्धमान सामंजस्य के वातावरण में, समस्त मत-मतान्तरों और राजनीतियों-राष्ट्रीयताओं से ऊपर उठकर, रह सकें।"

आॅरोविल पांडिचेरी के उत्तर की ओर लगभग पांच मील के अन्तर पर है। जो स्थान इसके लिए चुना गया वह सचमुच बड़ा भव्य है। पूर्व की ओर सदा ऊर्मिल सागर का सुविस्तृत दृश्यपट फैला है और पश्चिम एवं उत्तर की ओर अनेक छोटे-बड़े ताल-सरोवर हैं। परिकल्पना यह की गयी है कि यहां 50,000 जन तो रह ही सकें।

आॅरोविल न केवल एक सांस्कृतिक विश्वनगरी होगा, बल्कि पूर्णत्व के जीवन-स्वरूप का, जीवन के सर्वांगीण पुनर्गठन और रूपान्तरण के विधि-रूप का परिचय-चित्र भी प्रस्तुत करेगा। जो व्यक्ति सचेतन भाव से अपना विकास करना चाहेंगे उनके लिए यह एक आदर्श स्थान होगा। और सचमुच इसी में तो मानवता की सार्थकता भी है, उसकी आज की विभिन्न समस्याओं का समाधान। दूसरे शब्दों में, आॅरोविल की संस्थापना का उद्देश्य एक ऐसे स्थान को साकार करना है जहां विश्व के विभिन्न भागों से आकर वे तमाम लोग इकट्ठा हो सकें जो अपने जीवन और आचरण को श्री अरविन्द के आदर्शों के अनुरूप ढालना चाहते हैं।

सचमुच ही आॅरोविल एक विशेष प्रकार का स्थान होगा जहां हार्दिक

सद्भाव और अभीप्सा-युक्त मानवप्राणी विश्व नागरिकों के रूप में निर्बाध भाव से रह सकेंगे; जहां शान्ति सहमति और सामंजस्य का अखण्ड साम्राज्य होगा; और जहां मनुष्य की संघर्षधर्मी सहजवृत्तियां कष्टों और क्लेशों के मूल कारणों पर विजय प्राप्त करने में लगेंगी, उसके अज्ञान और दुर्बलताओं को और उसकी अक्षमताओं और परिसीमाओं को दूर कराने में जुटेंगी। मानव का जीवन जो आज के युग में प्रतिस्पर्धा और संघर्षों पर टिका है, वही ऑरोविल में निर्भ्रान्त होकर अपनी और सब की संवृद्धि के लिए सहयोग और भ्रातृ-भावना को आधार बनाकर आत्मविकास करेगा।

ऑरोविल में विभिन्न देशों और भारत के विभिन्न राज्यों के मण्डप भी बनेंगे जो अपने-अपने यहां की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करेंगे। सच तो, संस्कृति ही नहीं, ये मण्डप प्रत्येक देश और प्रत्येक राज्य की वास्तुकला, चित्रकला, भाषा, जीवन पद्धति, प्राकृतिक शोभा आदि के भी परिचयवाही होंगे। इस प्रकार, ऑरोविल एक अनूठा और अपने में समूचा विश्व होगा जहां प्रत्येक व्यक्ति संसार भर की संस्कृतियों से सम्पृक्त हुआ विविधता में एकता के सत्य को आमूर्त करेगा।

ऑरोविल को विश्व संघटन (यूनेस्को) ने भी सर्वसम्मति से अपना समर्थन दिया है। तीन-तीन प्रस्ताव इस सम्बन्ध में पारित किये गये हैं: 1966 में, 1968 में, और 1970 में। 1966 के प्रस्ताव में सब सदस्य राज्यों और गैर-सरकारी अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से कहा गया था कि वे ऑरोविल के विकास में इस दृष्टि से योगदान करें कि वह एक अपूर्व अन्तरराष्ट्रीय सांस्कृतिक नगर-क्षेत्र है जिसका लक्ष्य विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं के मूल्यों को, एक सामंजस्यपूर्ण परिवेश में, पूर्णत्वयुक्त जीवन के ऐसे मापदण्डों के साथ संघटित करना है जो मनुष्य की शारीरिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं के अनुरूप हों।

ऑरोविल निवासियों के लिए भारत की तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी निम्न सन्देश भेजा था:

"पांडिचेरी श्री अरविन्द के राजनीतिक निर्वास और आध्यात्मिक उन्मीलन का स्थान है। पांडिचेरी से ही उनका प्रोज्ज्वल सन्देश भी फैला और विश्व के विभिन्न भागों में पहुंचा। यह समुचित ही है कि देश-देश से दिव्यज्ञान के जिज्ञासु आकर उनके नाम पर आधारित एक अभिनव नगर की संस्थापना यहां करें। मानव के आध्यात्मिक विकास के लिए किस प्रकार और कैसा परिवेश अभीष्ट होता है इसे जानने-समझने की यह एक बड़ी रोमांचक परियोजना है। मेरी शुभकामनाएं कि ऑरोविल सचमुच ही प्रकाश और शान्ति की नगरी बन उठे...!"

ऑरोविल के विशेष महत्त्व को स्पष्ट करते हुए श्री मां ने कहा : "मानव प्राणी पार्थिव सृष्टि की अन्तिम श्रेणी नहीं है। क्रम-विकास सदा चलता रहता है अतः मानव-स्तर को पीछे छोड़कर आगे निकल जाना होगा। यह अब हम में से ही प्रत्येक को देखना है कि उस अभिनव सृष्टि के आविर्भाव में योगदान करें या नहीं। जो लोग इस संसार के वर्तमान रूप से सन्तुष्ट हैं उनके लिए प्रत्यक्ष ही ऑरोविल के होने-न-होने का कोई अर्थ नहीं होता।"

श्री मां ने यह भी स्पष्ट किया है कि सच्चे और पूरे अर्थ में ऑरोविल-वासी किस प्रकार बना जा सकता है। उन्होंने कहा है : "इसके लिए सबसे पहले उस आन्तरिक ज्ञान का होना आवश्यक है जिससे हमें बोध हो सके कि अपने इस सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, जातीय और वंशागत रूप-आवरण के भीतर वास्तव में हम हैं क्या। हमारे अन्तरतम केन्द्रभाग में वह परम मुक्त पुरुष विद्यमान है जो व्यापक और ज्ञानमय है और जो सदा जोहा करता है कि हम कब और कैसे अपने सच्चे स्वरूप को पहचानें। यही सत्ता वास्तव में हमारी जीवन-सत्ता का और हमारे ऑरोविल के जीवन का एकमात्र क्रियाशील केन्द्र होनी चाहिए।

"ऑरोविल में जो कोई भी रहता है वह इसी उद्देश्य को लेकर कि नैतिक और सामाजिक प्रथा-बन्धनों से मुक्त हो सके। पर किसी भी दशा में इस मुक्तता का अर्थ-भाव यह नहीं होना चाहिए कि हम अपने अहम् और

उसकी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की एक नयी दासता का ही सृजन कर लें। इच्छाओं को परितृप्त करने की कामना तो वास्तव में आन्तरिक आविर्झान के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बनेगी। क्योंकि शान्तचित्तता और अनासक्ति की पारदर्शक अवस्था में ही यह आविर्झान सम्भव हो सकता है।

"ऑरोविल के निवासियों को स्वत्वाधिकार के भाव से भी मुक्त रहना आवश्यक है। भौतिक जगत में रहने और अपने-अपने कार्य-कर्म की दृष्टि से जितना जो जिसके लिए नितान्त आवश्यक है उसका प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति के अनुसार प्रबन्ध कर दिया जाता है। सच तो अन्तरात्मा के साथ हमारा सम्पर्क जितना अधिक सचेतन होगा उतने ही अधिक सुनिश्चित और सुसंगत साधन भी प्राप्त होंगे।

"आन्तरिक आविर्झान के लिए शारीरिक श्रम तक का करना अनिवार्य होता है। हम यदि श्रम नहीं करेंगे, अर्थात् जडतत्त्व में अपनी चेतना को समाविष्ट नहीं करेंगे, तो उस तत्त्व का विकास ही नहीं होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी चेतना शरीर के माध्यम से जडतत्त्व के किसी-न-किसी अंश को संघटित करे। हम यदि अपने आसपास व्यवस्था लाते हैं तो उससे हमारे भीतर भी व्यवस्था आ सकेगी।

"वस्तुतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी जीवन-व्यवस्था को बाहर के कृत्रिम नियम-क्रमों पर आधारित न करके उसे आन्तरिक चेतना के अनुसार संघटित करे। क्योंकि जीवन धारा की गति पर यदि उच्चतर चेतना का नियन्त्रण न होगा तो वह अस्थिर और अर्थशून्य होकर रह जायेगी। और यह तो एक समूचे जीवन-काल को ही अपने हाथों गंवा देना होगा : इस दृष्टि से कि हमने जडतत्त्व का सचेतन उपयोग नहीं किया और उसके अभाव में वह जड का जड ही बना रह गया !

"अब तो पृथ्वीलोक को उस अभिनव प्राणिजाति के आविर्भाव के लिए स्वयं तैयार होना चाहिए और ऑरोविल तो अपनी पूरी चेतना शक्ति के साथ उसी दिशा में कार्यशील होना चाहता है। यह अभिनव प्राणिजाति

कैसी और क्या होगी इसका ज्ञान थोड़ा-थोड़ा करके ही प्रत्यक्ष होगा। उस समय तक सबसे उपयुक्त हमारे लिए यही है कि अपने को सम्पूर्ण रूप से भगवान के प्रति समर्पित रखें !"

संक्षेप में हम श्री अरविन्द के शब्दों में यही कहेंगे—

"अन्ततः विकसित होगा ऋतु संवर्धित सामंजस्य
आना है शुभ दिन जब द्वैधमुक्त मानवमात्र बनेगा एक
अग्रसर लघुचरण भी इस बीच निश्चय उपलब्धि महान
क्रम-क्रम करके ही तो धरती का होना है स्वर्मुख उन्मेष
दिव्य ज्योति से न हो जब तक उसकी तम-आवृत आत्मा
ज्योतित !"

ग्रन्थ सूची

श्री अरविन्द के ग्रंथ

ऑन योग : द सिन्थेसिस ऑव योग (1965) (ऑन योग-1)
ऑन योग-2 : टोम्स 1 और 2 (1958)
स्पीचेज़ (1952)
लाइट्स ऑन योग (1942)
द आइडियल ऑव द कर्मयोगिन् (1950)
श्री अरविन्द ऑन हिमसेल्फ़ ऐण्ड ऑन द मदर (1953)
बेसीज़ ऑव योग (1949)
मेसेज ऑव श्री अरविन्द ऐण्ड द आश्रम (1962)
मेसेज ऑव श्री अरविन्द : 15 अगस्त 1947
ऑन द वेद (1956)
एसेज़ ऑन द गीता (1966)
द ह्यूमन साइकिल, आइडियल ऑव ह्यूमन यूनिटी ऐण्ड वॉर ऐण्ड सेल्फ़ डिटर्मिनेशन (1962)
द फ़ाउण्डेशन्स ऑव इण्डियन कल्चर (1959)
द लाइफ़ डिवाइन (अमेरिकन एडिशन) (1965)
लाइफ़—लिट्रिचर—योग (1967)
द मदर (1960)
द आँवर ऑव गॉड (1964)
द प्रॉब्लेम ऑव रीबर्थ (1952)

कविताएं और नाटक

सावित्री (1954)
लास्ट पोएम्स (1952)
द फ़्यूचर पोएट्री (1953)
हिम्स टु द मिस्टिक फ़ाइर (1952)
कलेक्टेड पोएम्स ऐण्ड प्लेज़ (2 खण्ड) (1942)
पर्स्यू'स द डेलिवरर (1955)
इलियॅन (1957)
वासवदत्ता (1965)
विक्रमोर्वशी (द हीरो ऐण्ड द निम्फ़) कालिदास के संस्कृत नाटक का श्री अरविन्द द्वारा अनुवाद

समाचारपत्रों तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं की नाम-सूची जिनमें श्री अरविन्द के लेख आदि आये

वन्दे मातरम् (1908)
आर्य (1914)
इन्दु प्रकाश (1893-94)
युगान्तर (1906)
कर्मयोगिन् (1909)
धर्म (1909)

आश्रम पत्र-पत्रिकाओं से उद्धरण

मदर इण्डिया (1952) 'जर्नल'—अनिलवरण रॉय
उक्त (1958) 'द मदर'—के. डी. सेठना
उक्त (1959) 'अ मेसेज'—श्री मां

बुलेटिन्स ऑव फ़िज़िकल एडुकेशन
बुलेटिन्स ऑव द श्री अरविन्द इण्टरनैशनल सेण्टर ऑव एडुकेशन

श्री मां की कृतियां

द मदर ऑन श्री अरविन्द
प्रेअर्स ऐण्ड मेडिटेशन्स (1948)
वर्ड्ज़ ऑव द मदर (तीन मालाएं) (1966)
मेसेजेज़ ऑव द मदर
लाइफ़ ऑव श्री अरविन्द (1964)—ए. बी. पुराणी
सयाजीरावं गायकवाड़ यांच्या सहवासांत—जी. एस. सरदेसाई
श्री अरविन्द : द होप ऑव मैन—कृष्णमूर्ति
श्री अरविन्द प्रसंगे—दिनेन्द्र कुमार रॉय
द अलीपुर ट्रायल (1922)—विनय कृष्ण बोस
लाइफ़ इन श्री अरविन्द आश्रम (1965)—नारायण प्रसाद
द योग ऑव श्री अरविन्द (9 मालाएं)—नलिनी कान्त गुप्त
श्री अरविन्द ऑर द ऐडवेंचर ऑव कॉन्शसनेस—सत्प्रेम
द लिबरेटर (1970)—शिशिर कुमार मित्र
होमेज (1907)—रवीन्द्रनाथ टैगोर
करेसपॉण्डेन्स विथ श्री अरविन्द (प्रथम और द्वितीय मालाएं) (1954 और 1959)—नीरदवरण
आनन्दमठ—बंकिमचन्द्र चैटर्जी
डिक्शनरी ऑव श्री अरविन्दोज़ योग (1966)—एम. पी. पण्डित
ईवनिंग टॉक्स (प्रथम, द्वितीय, तृतीय मालाएं)—ए. बी. पुराणी

कालानुक्रमणिका

अगस्त 15, 1872 : जन्म, कलकत्ता।
1877-79 : इंग्लिश बोर्डिंग स्कूल, दार्जिलिंग ।
1879-84 : मैन्चेस्टर, इंग्लैण्ड।
1884-90 : सेण्ट पॉल्स स्कूल, लंदन।
1890-92 : किंग्ज़ कॉलेज, केम्ब्रिज।
1892-93 : वापस भारत आये; बड़ौदा।
1901 : मृणालिनी देवी के साथ विवाह।
1902 : बंगाल में क्रान्तिकारी कार्य।
1904 : योग-साधना का समारम्भ।
1906 : बड़ौदा से कलकत्ते प्रयाण।
दिसम्बर 1907 : योगी लेले से प्रथम भेंट।
मई 4, 1908 : भारत सरकार द्वारा बन्दी।
1908-1909 : अलीपुर बम केस।
मई 6, 1909 : अलीपुर जेल से अभिमुक्ति।
फरवरी 1910 : कलकत्ते से चन्द्रनगर को प्रयाण।
अप्रैल 4, 1910 : पांडिचेरी में आगमन।
मार्च 29, 1914 : श्री अरविन्द और श्री मां—प्रथम भेंट।
अगस्त 15, 1914 : (दर्शन-विषयक मासिक-पत्र) 'आर्य' का प्रकाशन-प्रारम्भ।
फरवरी 22, 1915 : श्री मां का पांडिचेरी से प्रस्थान।
अप्रैल 24, 1920 : श्री मां का पांडिचेरी लौटना और वहीं स्थायी निवास।

जनवरी 1921 : 'आर्य' का प्रकाशन बन्द ।

नवम्बर 24, 1938 : श्री अरविन्द की टांग में चोट : कुछ साधकों को उनकी अपने हाथों सेवा-शुश्रूषा करने की प्रथम बार सुविधा ।

अगस्त 15, 1947 : श्री अरविन्द के 75वें जन्मदिवस पर भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति ।

दिसम्बर 5, 1950 : श्री अरविन्द का महाप्रयाण ।

1952 : श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र का उद्घाटन ।

फरवरी 29, 1956 : अतिमानस का अवतरण ।

फरवरी 28, 1968 : ऑरोविल का शिलान्यास ।

श्री अरविन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

भारतीय संस्कृति

द फ़ाउण्डेशन्स ऑव इण्डियन कल्चर
ऑन द वेद
हिम्स टु द मिस्टिक फ़ाइर
ईश उपनिषद् (संस्कृत मूल सहित अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी)
एट उपनिषद्ज़ (संस्कृत मूल सहित अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी)
केन उपनिषद् (संस्कृत मूल सहित अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी)
एसे ऑन द गीता
द रिनैसन्स इन इण्डिया
द सिग्निफ़िकेन्स ऑव इण्डियन आर्ट

साहित्य—कविताएं और नाटक

व्यास ऐण्ड वाल्मीकि
कालिदास
न्यूज़ ऐण्ड रिव्यू
लेटर्ज़ ऑव श्री अरविन्द : तीन मालाएं (साहित्य विषयक)
द फ़्यूचर पोएट्री
कॉन्वर्सेशन्स ऑव द डेड
द फ़ैण्टम ऑअर (लघुकथा)
कलेक्टेड पोएम्ज़ ऐण्ड प्लेज़
पोएम्ज़ : पास्ट ऐण्ड प्रेज़ेण्ट

लास्ट पोएम्ज़
मोर पोएम्ज़
इलियॅन
रोदोगुने
सावित्री : आख्यान एवं प्रतीक
द विज़िअर्स ऑव बसोरा
वासवदत्ता
एरिक

राष्ट्रीयता

बंकिम-तिलक-दयानन्द
द नैशनल वैल्यु ऑव आर्ट
द आइडियल ऑव द कर्मयोगिन्
अ सिस्टम ऑव नैशनल एडुकेशन
द ब्रेन ऑव इण्डिया
द स्पीचेज़ ऑव श्री अरविन्द
द डॉक्ट्रिन ऑव पैसिव रेज़िस्टेन्स

तत्त्वज्ञान-दर्शन : योग

द लाइफ़ डिवाइन
आइडियल्स ऐण्ड प्रोग्रेस
द सुपरमैन
इवोल्यूशन
थॉट्स ऐण्ड ग्लिम्पसेज़
थॉट्स ऐण्ड ऐफ़ॉरिज़्मस
द ऑअर ऑव गॉड

हेराक्लिटस
द सुप्रामेण्टल मैनिफ़ेस्टेशन अपॉन अर्थ
द प्रॉब्लेम ऑव रीबर्थ
द ह्यूमन साइकिल
द मदर
द योग ऐण्ड इट्स ऑब्जेक्ट्स
द सिन्थेसिस ऑव योग (ऑन योग : भाग 1)
ऑन योग : खण्ड 2 : टोम 1, टोम 2, (योग-विषयक पत्रों का संकलन)
द रिड्ल ऑव दिस वर्ल्ड
लेटर्स ऑव श्री अरविन्द ऑन द मदर

श्री अरविन्द पर कुछ अन्यान्य ग्रन्थ

जिन पुस्तकों के नाम के आगे कोष्ठक में प्रकाशक का नाम दिया गया है उन्हें छोड़ अन्य सभी श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी का प्रकाशन हैं।

चन्द्रशेखरम्, वी. ... श्री अरविन्दोज़ द लाइफ़ डिवाइन

चौधुरी, हरिदास एवं स्पीगलबर्ग, एफ़. ... द इण्टीग्रल फिलॉसफ़ी ऑव श्री अरविन्द (ऐलेन ऐण्ड अनविन)

दिवाकर, आर. आर. ... महायोगी (भवन प्रकाशन)

गुप्त, नलिनीकान्त ... द योग ऑव श्री अरविन्द

आयंगार, के. आर. श्रीनिवास ... श्री अरविन्द
... श्री अरविन्द : ऐन इण्ट्रोडक्शन (राव ऐण्ड राघवन)

मित्र, एस. के. ... द मीटिंग ऑव ईस्ट ऐण्ड वेस्ट इन श्री अरविन्दोज़ फ़िलॉसफ़ी
... द लिबरेटर (जयको)

नीरदबरण ... करेस्पॉण्डेन्स विथ श्री अरविन्द (दो खण्ड)

सत्प्रेम	···	श्री अरविन्द फ़ॉर द ऐडवेंचर ऑव कॉन्शसनेस
केशवमूर्ति	···	श्री अरविन्द—द होप ऑव मैन (दीप्ति प्रकाशन)
नारायण प्रसाद	···	लाइफ इन श्री अरविन्द आश्रम
पण्डित, एम. पी.	···	साधना इन श्री अरविन्दोज़ योग
सेण्ट-हिलेअर, पी. बी.	···	श्री अरविन्द : द फ़्यूचर इवोल्यूशन ऑव मैन (ऐलेन ऐण्ड अनविन)
सेठना, के. डी.	···	द पोएटिक जीनियस ऑव श्री अरविन्द
सिंह, कर्ण	···	पोलिटिकिल थॉट ऑव श्री अरविन्द घोष : 1893-1910 (ऐलेन ऐण्ड अनविन)

गोयल आफसेट, आजाद पुर, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

श्री अरविन्द, एक महान दार्शनिक संत एवं श्रेष्ठ कवि थे। उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिक काल में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में सक्रिय भाग लिया और एक प्रमुख नेता के रूप में अपनी भूमिका निभाई। इस यशस्वी शिक्षक का बहुमुखी जीवन और उनका दर्शन इस संक्षिप्त जीवन चरित्र में सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक के लेखक श्री नवजात का जन्म 1922 में हुआ। श्री अरविन्द सोसाएटी और औरोविले के अध्यक्ष हैं, जो एक अंतर्राष्ट्रीय नगर क्षेत्र है और निखिल मानवता की एकता, महिमा-गरिमा तक सुख-शांति की संप्राप्ति के लिए समर्पित है। लेखक श्री अरविन्द के जीवन, कृतित्व, अंतर्दर्शन और वाणी को सबके लिए बोधगम्य कराने की दिशा में सक्रिय है।



Rs. 12.50

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया